गुरुवाणी भाग-२

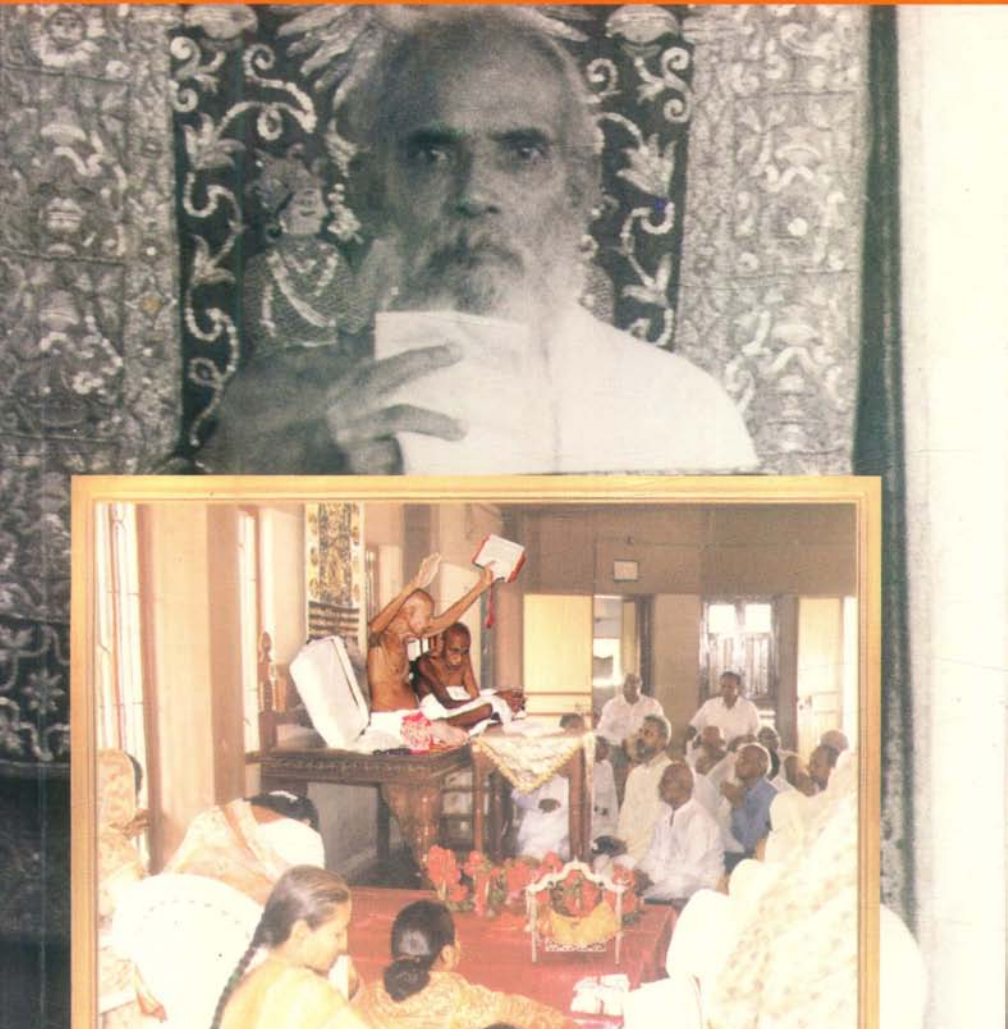

पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराजश्री भुवन विजयान्तेवासी

मुनि जंबुविजय

गुरुवाणी

भाग-२

विक्रम संवत् २०४१, समीग्राम के चातुर्मासान्तर्गत
दिये गये प्रवचन

प्रवचनकार

पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराज श्री भुवनविजयान्तेवासी
मुनिराज श्री जम्बूविजयजी महाराज

सम्पादिका

साध्वी श्री जिनेन्द्रप्रभाश्रीजी

हिन्दी अनुवादक

साहित्य वाचस्पति महोपाध्याय विनयसागरजी

प्रकाशक

श्री सिद्धि-भुवन-मनोहर जैन ट्रस्ट, अहमदाबाद, (गुजरात)

प्रकाशक:-

श्री सिद्धि-भुवन-मनोहर जैन ट्रस्ट
अहमदाबाद (गुजरात)

मूल्य : सदुपयोग

हिन्दी आवृत्ति : प्रथम संस्करण

प्रति : १०००

© : प्रकाशकाधीन

प्रकाशन वर्ष : सन् २००८, वि. सं. २०६५

प्राप्ति स्थान :-

१. अशोक भाई बी. संघवी,
c/o महावीर ट्रेडर्स
४१०, दवा बाजार,
शेफाली सेंटर के सामने, पालडी,
अहमदाबाद - ३८० ००६
फोन - ०७९-२६५७८२१४ / ९८२५०३७१७०

२. अजयभाई - अहमदाबाद - ९८२५०३०६५८

मुद्रक - मुद्रेश पुरोहित
सूर्या ओफसेट
आंबली, अहमदाबाद - ३८० ०५८
फोन - ०२७१७-२३०११२

सम्पादकीय

गुणात्मक धर्म के आग्रही पूज्य गुरुदेव का चातुर्मास विक्रम संवत् २०४१ में समीग्राम में हुआ। उस समय पूज्यश्री ने श्री **शान्तिचन्द्रसूरि** विरचित (आज के श्रावक को सच्चा श्रावक बना सके ऐसे) **धर्मरत्नप्रकरण** पर सुन्दर और सरल शैली में प्रवचन दिये थे। इन प्रवचनों को अक्षरदेह देने का काम इस पुस्तक में किया गया है। इस पुस्तक के प्रथम भाग का विमोचन गत चातुर्मास में जैन सोसायटी अहमदाबाद में हुआ था। उसमें श्रावक धर्म का अधिकारी कौन बन सकता है? उसके चार गुणों का वर्णन किया गया था। इस पुस्तक के दूसरे भाग में दूसरे छः गुणों का वर्णन **अक्रूर, पापभीरु, कृतज्ञ, दाक्षिण्य, लज्जालु** और **दयालु** तथा पर्युषण के व्याख्यान का आलेखन किया गया है। प्रथम भाग का प्रकाशन बहुत ही लोकप्रिय बना और अनेक लोगों ने उसे पढ़ा भी। लोगों का दूसरे भाग के लिए भी अत्यधिक आग्रह रहा, इसी कारण दूसरे भाग का संपादन करने में मुझे प्रोत्साहन मिला। पूज्य गुरुदेव के व्याख्यान में पूज्य श्री की शक्ति और सच्चाई का प्रामाणिक दस्तावेज होता है। श्रावकों में रही हुई श्रद्धा का प्रतीक है। हमारा जीवन एक केलिडोस्कोप के समान है जिसमें अनेक आकृतियों का समावेश है। तनिक भी आड़ी-तिरछी या परिवर्तन होते ही वे आकृतियाँ बदल जाती है। एक बार चली गई डिजाईनें दुबारा नहीं आ सकती। इस पुस्तक का पठन-पाठन श्रावकों की जीवन-दिशा को बदलेगा तभी सार्थक होगा। आज के समय में कथित वैज्ञानिक युग में जब नीति की चारों ओर से सफाई हो रही है तब यह पुस्तक धर्म की सच्ची समझ देने में मार्गदर्शक बनेगी।

समी के चातुर्मास के समय मैंने व्याख्यान की जो नोट बुकें बनाई थीं उसमें से पहली नोट बुक के व्याख्यान तो इस पुस्तक के प्रथम भाग में आ गये किन्तु दूसरी नोट बुक किसी को पठनार्थ मैंने दी थी। अनेक प्रयत्न करने पर भी वह मुझे वापस नहीं मिली। आदरियाणा के चातुर्मास में पूज्यश्री ने इसी

धर्मरत्नप्रकरण पर विवेचन किया था, व्याख्यान दिये थे। उसके कुछ अंश मैंने नोट किए थे। उसी के आधार पर तथा अहमदाबाद के चातुर्मास में दिये गये प्रवचनों के कुछ मुख्य अंश लेकर इस पुस्तक को तैयार किया है।

मेरे जैसे अल्प बुद्धि वाले के लिए यह काम अत्यन्त कठिन होने पर भी पूज्य तारक गुरुदेव की कृपा और संघमाता शतवर्षाधिकायु पूजनीया बा.महाराज साध्वी श्री **मनोहरश्रीजी** महाराज साहब (पूज्य जम्बूविजयजी महाराज साहब की सांसारिक मातुश्री) तथा पूजनीया सेवाभावी गुरुवर्या साध्वी श्री **सूर्यप्रभाश्रीजी** महाराज के शुभाशीर्वाद ही मेरा प्रेरक बल था। साथ ही संयम जीवन की अप्रमत्त भाव से आराधना करने वाले मेरे पूज्य पिताश्री **धर्मघोषविजयजी** महाराज साहब तथा मातुश्री **आत्मदर्शनाश्रीजी** महाराज साहब का स्नेहाशीर्वाद मुझे मिला है।

पूज्य गुरुदेव ने अन्तिम प्रूफ वाचन कर त्रुटियों को दूर किया है उसके लिए मैं उनकी ऋणी हूँ। शिष्य परिवार ने प्रूफ पढ़ने में जो सहायता की है उसके लिए मैं उनका आभार मानती हूँ। पूज्य गुरुदेव के शुद्ध और स्पष्ट विचार लोगों के हृदय तक पहुँचे इसके लिए प्रेरणा देने वाले श्री अजयभाई का मैं बहुत-बहुत आभार मानती हूँ।

अन्त में यह पुस्तक आज के युवा वर्ग के लिए सत्य-पथप्रदर्शक बने तथा अनेक भव्यजनों को सद्विचार प्रदान करने वाला बने यही मेरी मनोकामना है। शेष गुणों का विवेचन अगले भाग में किया जाएगा।

वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध मेरी अज्ञानतावश यदि कुछ लिखने में आया हो या प्रूफ वांचन में/सुधार में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गयी हो तो कृपया वाचकगण उसे सुधार कर पढ़े साथ ही हमें भी सूचित करें ताकि अगले संस्करण में सुधार हो सके। भूलचूक के लिए कृपया पाठकगण क्षमा करें।

यह पुस्तक वात्सल्यमयी गुरुमाता के चरणों में समर्पित करके मैं यत्किञ्चित् ऋण मुक्त होने की कामना करती हूँ।

माह वदि ३, सं. २०५३ — **मनोहरशिशु**
शंखेश्वर तीर्थ

अनुक्रमणिका

अक्रूरता:- १-८

* दौड़त दौड़त दौड़त दौड़ियो १
* वक्तृत्व की अपेक्षा श्रोतृत्व महान् कला है २
* धर्म के साथ सम्बन्ध कैसा हो? २
* अक्रूरता ३
* भतीजे द्वारा काका की परीक्षा ४
* धर्म गुण प्रधान है ६
* कुन्तल रानी ६
* कषाय रहित धर्म का परिणाम ७

पापभीरुता:- ९-१३

* सामान्य, विशेष का निर्माता है ९
* पापभीरु ९
* व्यापार कब धर्म बनता है? १०
* पापभीरु सुलस ११

प्रभु के साथ चित्त जोड़ो:- १४-१८

* पूर्वजन्मों के संस्कार १४
* प्रभु का स्मरण ही प्रभु-शरण है १५
* प्रभु का नाम स्मरण सस्ता होने पर भी सक्षम है १६
* तन आसन पर, मन कहाँ? १७

अशठता:- १९-२३

* भगवान् मल्लिनाथ १९
* दम्भ का बोलबाला १९
* माता-पिता की प्रतिष्ठा बिना प्रभु की प्रतिष्ठा कैसी? २०
* माँ देखती है आते को और पत्नी देखती है लाते को २२

पर्युषणा-प्रथम दिन:- २४-४१

* पर्व का स्थान २४
* पर्युषण का शब्दार्थ २४
* पर्युषणा कल्प २५
* तीन विभाग २६
* अमारि प्रवर्तन-युगल जोड़ी २६
* पूज्य विजयहीरसूरिजी महाराज ३२
* गुरुभक्ति ३४
* चम्पा श्राविका ३५
* गंधार से दिल्ली की ओर विहार ३७
* दिल्ली में प्रवेशोत्सव और सम्राट से मिलन ३७
* सेन को सवाई पदवी ३९
* ऊना में अन्तिम समय ३९

पर्युषणा-द्वितीय दिन:- ४२-६२

* साधर्मिक वात्सल्य ४२
* मोटा वस्त्र ४३
* उदो मारवाड़ी ४४
* शत्रुञ्जय का १४वाँ उद्धार ४६
* वस्तुपाल - तेजपाल ४८

* धोलका में स्थायी निवास ५१
* युद्ध–कौशल ५२
* वस्तुपाल की संस्कृत रसिकता ५२
* साढ़े तेरह संघ निकालोगे ५३
* प्रभु के लिए पाषाण प्राप्त किया ५४
* शत्रुंजय का १५वाँ उद्धार ५५
* सोलहवाँ उद्धार कर्माशा का ५८
* स्वदृष्टि से देखा गया अद्भुत अभिषेक और चमत्कार ६०

पर्युषणा तृतीय दिन:– ६३–७३

* देदाशा ६३
* श्री स्तंभन पार्श्वनाथ की महिमा ६४
* पेथड़ का परिग्रह–परिमाण ६७
* माण्डवगढ़ में पेथड़ ६८
* झांझण का बुद्धि कौशल्य ७०
* पेथड़शाह की साधर्मिक भक्ति ७१
* भेंट से ब्रह्मचर्य स्वीकार ७२
* जगडुशाह की साधर्मिक भक्ति ७३

क्षमापना:– ७४–८२

* खामणा ७४
* चन्दनबाला–मृगावती ७५
* उपाध्याय श्रीधर्मसागरजी महाराज ७९

तपाराधना:– ८३–८७

* अट्ठम तप की आराधना ८३
* तप उत्तम औषध ८४
* नागकेतु ८५
* चैत्यपरिपाटी ८६
* पाँचम की चौथ ८७

गणधरवाद:– ८८–९६

* वेद वाक्य की भूमिका ८९
* प्रभु का उत्तर ९२
* प्रत्यक्ष से आत्मा है ९४

सुदाक्षिण्यता:– ९७–१०२

* धर्म योग्य श्रावक का आठवाँ गुण ९७
* कामवासना के पाप में ९८
* बाल–संस्कारों के लिए क्या करोगे? १०२

स्वार्थी संसार:– १०३–१०७

* बालमुनि की दाक्षिण्यता १०४
* बहुत गई थोड़ी रही १०५

लज्जा:– १०८–११३

* धर्म योग्य श्रावक का नौवाँ गुण १०८
* धर्म के मूल में लज्जा १०८
* चण्डरुद्राचार्य और शिष्य ११०

दया:– ११४–१२८

* दया की चाबी राजीनामा ११४
* खणं जाणाहि पंडिया ११४
* सम्पत्ति दैवी या आसुरी ११६
* धर्म रुचि अणगार ११९

श्री सिद्धगिरिमंडन श्री ऋषभदेव भगवान

श्री शत्रुंजयतीर्थाधिपति श्री आदीश्वरपरमात्मने नमः

श्री शंखेश्वरजी तीर्थमां बिराजमान देवाधिदेव

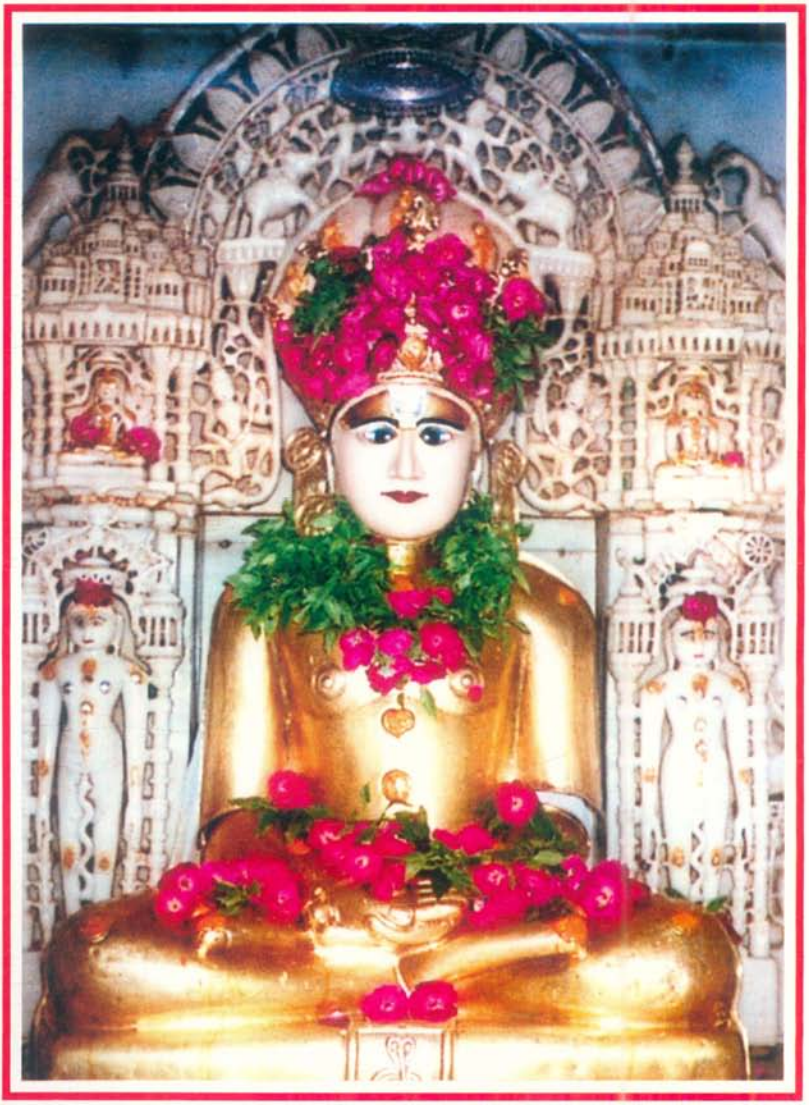

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान

पूज्यपाद महातपस्वी गणिवर्य पं. श्री मणिविजयजी महाराज (दादा)ना शिष्यरत्न

पूज्यपाद संघस्थविर आचार्यदेव श्री १००८

विजय सिद्धिसूरीश्वरजी (बापजी) महाराज

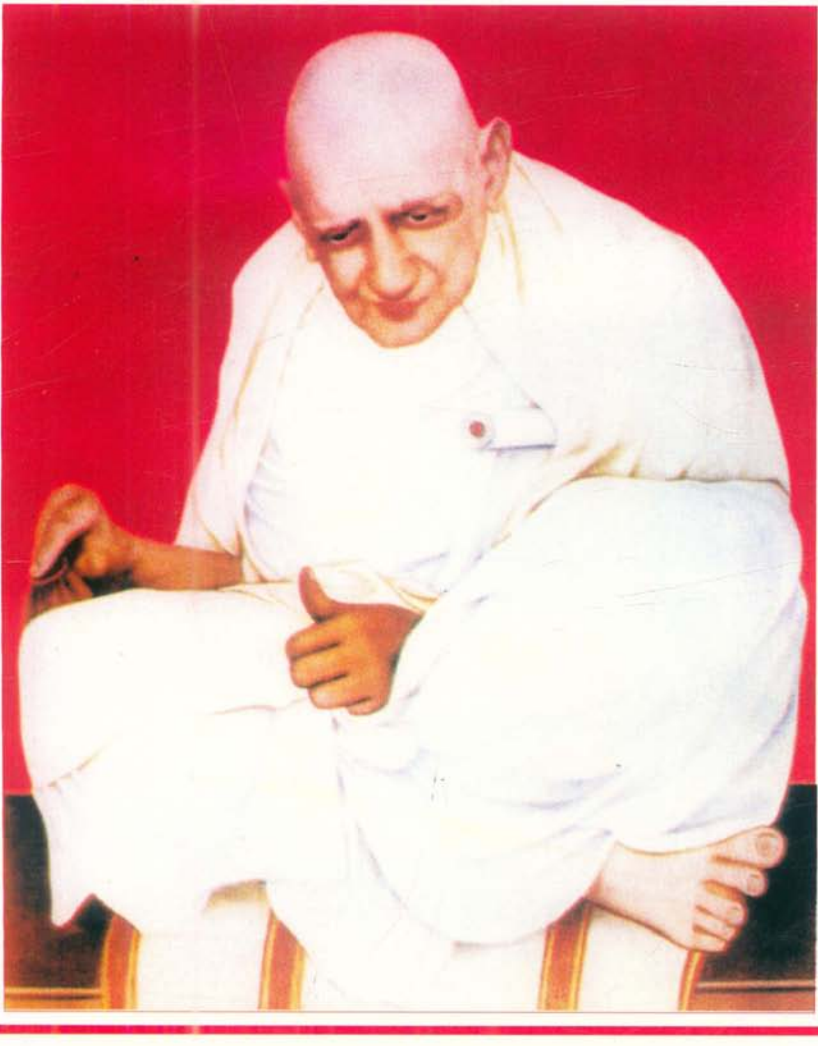

जन्म : वि. सं.	१९११ श्रावण सुदि १५, वळाद (अमदावाद पासे)
दीक्षा : वि. सं.	१९३४ जेठ वदि २, अमदावाद
पंन्यासपद : वि. सं.	१९५७, सुरत
आचार्यपद : वि. सं.	१९७५ महा सुदि ५, महेसाणा
स्वर्गवास : वि. सं.	२०१५ भाद्रपद वदि १४, अमदावाद

पूज्यपाद संघस्थविर आचार्यदेव श्री १००८ विजयसिद्धिसूरीश्वरजी (बापजी)
महाराजना पट्टालंकार

पूज्यपाद आचार्यदेवश्री विजयमेघसूरीश्वरजी महाराज

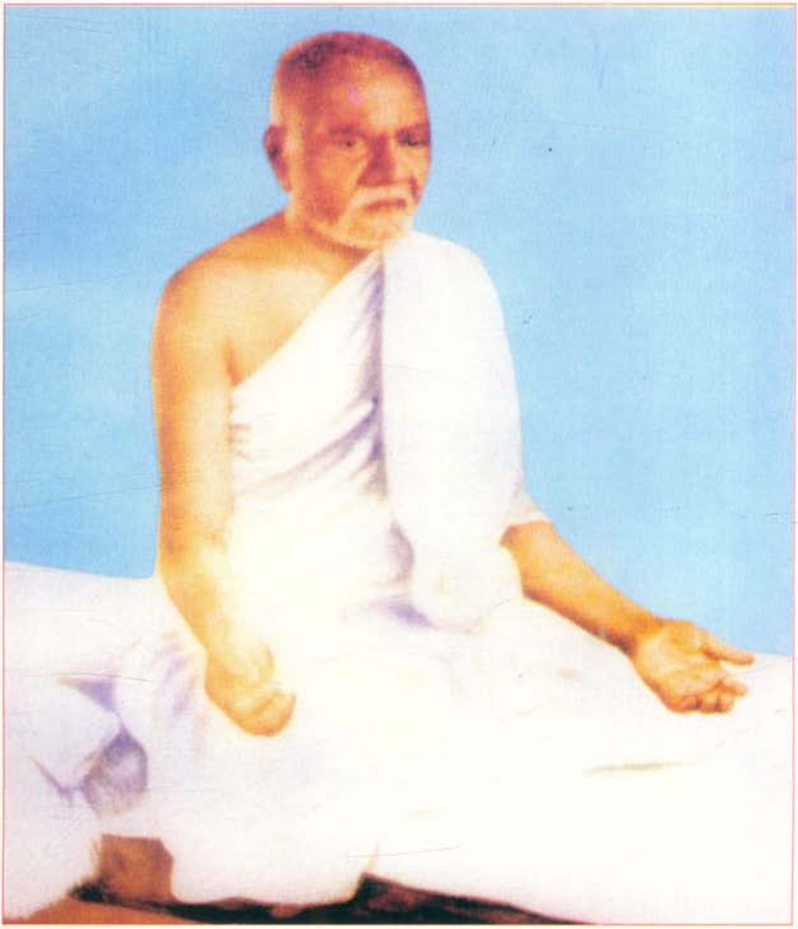

जन्म : वि. सं. १९३२ मागशर सुदि ८, रांदेर
दीक्षा : वि. सं. १९५८ कारतिक वदि ९, मींयागाम—करजण
पंन्यासपद : वि. सं. १९६९ कारतिक वदि ४, छाणी
आचार्यपद : वि. सं. १९८१ मागशर सुदि ५, अमदावाद
स्वर्गवास : वि. सं. १९९९ आसो सुदि १, अमदावाद

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय संघस्थविर श्री १००८ आचार्यदेवश्री
विजयसिद्धिसूरीश्वरजी (बापजी) महाराजना पट्टालंकार
पूज्यपाद आचार्यदेवश्री विजयमेघसूरीश्वरजी महाराजना शिष्यरत्न

पूज्यपाद गुरुदेव मुनिराजश्री भुवनविजयजी महाराज

(मुनि जंबूविजय म.ना पिताश्री तथा गुरुदेव)

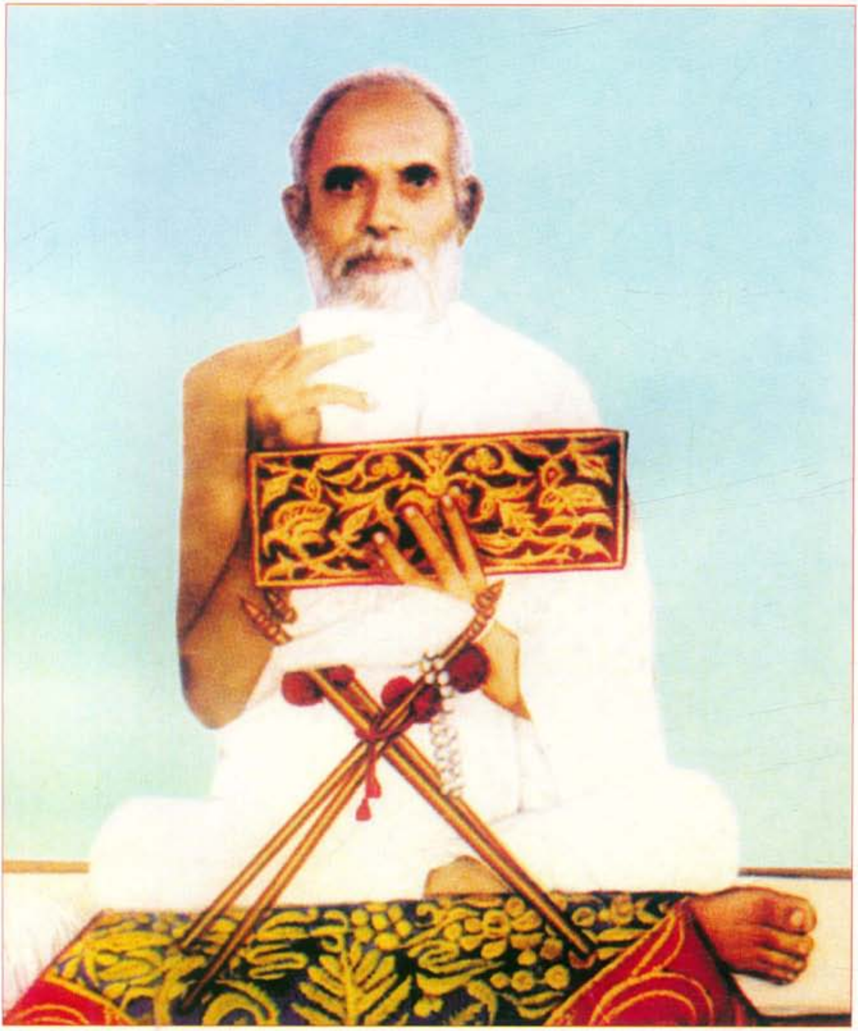

जन्म : वि. सं. १९५१ श्रावण वदि ५, शनिवार, ता.१०–८–१८९५, मांडल
दीक्षा : वि. सं. १९८८ जेठ वदि ६, शुक्रवार, ता.२४–६–१९३२, अमदावाद
स्वर्गवास : वि. सं. २०१५ महा सुदि ८, ता.१६–२–१९५९, शंखेश्वरजी तीर्थ

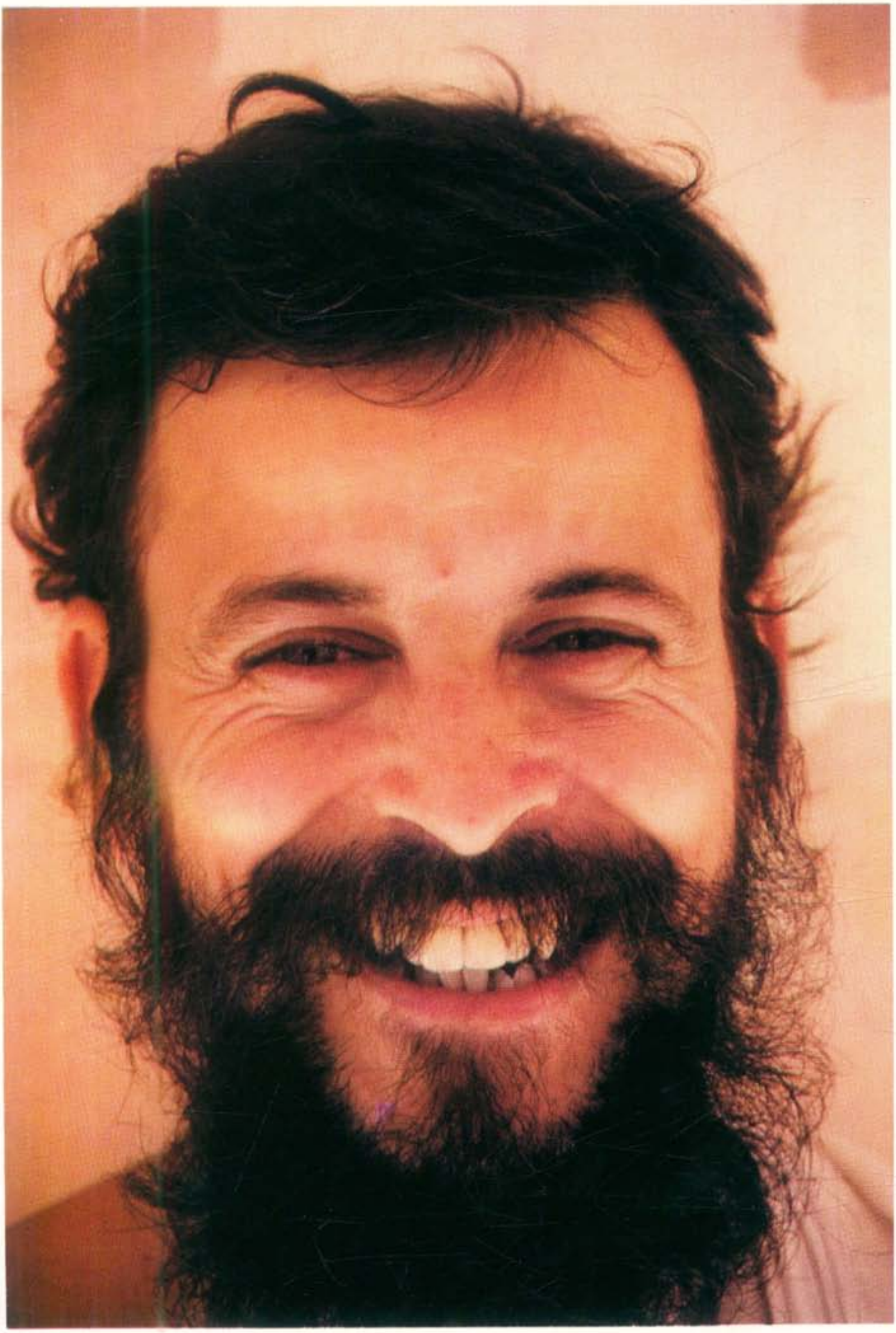

प्रातः वंदनीय

पू. साध्वीजी मनोहरश्रीजी म.सा. (बा महाराज)

विक्रम संवत १९५१ मागशर वद२, ता. १४-१२-१८९४, शुक्रवारे झंझुवाडामां पिता पोपटभाई तथा माता बेनीबेननी कुक्षिए जन्मेलुं तेजस्वीरत्न मणिबहेन, के जे छबील एवा हुलामणा नामथी मोटा थया अने बाळपणथी ज धर्मपरायण एवी आ तेजस्वी दिकरीने पिता मोहनलालभाई अने माता डाहीबहेनना पनोता पुत्र भोगीभाईनी साथे परणाव्या। वर्ष पर वर्ष वीतता चाल्या। जलकमलवत् संसारसुख भोगवतां एमनी दाम्पत्य-वेल पर पुत्रनुं पुष्प प्रगट्युं। नानी उंमरमां पडेलु धर्मबीज मणिबेनना जीवनमां हवे वृक्षरुपे फुल्युं-फाल्युं अने तेना फळ स्वरूपे पति अने पुत्रने वीरनी वाटे वळाव्या। जेओ प.मु.श्रीभुवनविजयजी म.सा. तथा पू.मु.श्रीजंबुविजयजी म.सा.ना नामे प्रसिध्धबन्या। पतिना पगले-पगले चालनारी महासतीनुं बिरूद सार्थक करता मणिबेने पण तेमना ज संसारी मोटा बहेन पू.सा. श्री लाभश्रीजी म.सा.ना चरणमां जीवन समर्पण कर्युं। तप, त्याग, समता, सहनशीलता जेवा गुणोने आत्मसात कर्या. ५७ वर्ष सुधी निरतिचारपणे संयम जीवननी आराधना करतां तथा वात्सल्यना धोधमां बधाने नवडावता ए गुरूमाता १०१ वर्षनी जैफ उंमरे संवत २०५१ पोषसुदि १० तां. ११-१-१९९५, बुधवारे पालिताणामां सिध्धाचलनी गोदमां समाई गया।

पूज्यपाद साध्वीजी श्री लाभश्रीजी महाराज (सरकारी उपाश्रयवाला)ना शिष्या

पूज्यपाद साध्वीजी श्री मनोहरश्रीजी महाराज

(मु. जंबूविजय म.ना संसारी मातुश्री)

जन्म : वि. सं. १९५१ मागशर वदि २, शुक्रवार, ता.१४–१२–१८९४ झींझुवाडा

दीक्षा : वि. सं. १९९५ महा सुदि १२, बुधवार, ता.१–२–१९३९ अमदावाद

स्वर्गवास : वि. सं. २०५१ पोष सुदि १०, बुधवार, ता.११–१–१९९५ रात्रे ८.५४
वीशानीमाभवन जैन उपाश्रय, सिद्धक्षेत्र पालिताणा.

संघमाता शतवर्षाधिकायु पूज्यपाद साध्वीजी
श्री मनोहरश्रीजी म. सा. ना शिष्या

साध्वीजी श्री सूर्यप्रभाश्रीजी महाराज

जन्म : वि.सं. १९७७, फागण वदि ६, सोमवार, आदरियाणा
दीक्षा : वि. सं. महासुदि १, रविवार, ता.३०-१-१९४९, दसाडा
स्वर्गवास : वि. सं. २०५१, आसोवदि १२, शनिवार, ता.२१-१०-१९९५, मांडल

अक्रूरता

भादवा वदि ७

दौड़त दौड़त दौड़त दौड़ियो ....

अध्यात्मयोगी पूज्य आनन्दघन जी महाराज ने धर्मनाथ भगवान् के स्तवन में कहा है – दौड़त दौड़त दौड़त दौड़ियो।

जगत् के समस्त प्राणी दौड़ रहे हैं– कीड़ी से लेकर हाथी तक, साइकिल से लेकर हवाई जहाज तक के साधनों द्वारा, कोई रेल से, कोई मोटर से और कोई प्लेन से दौड़ रहा है। महापुरुष कहते हैं कि ऐसे दौड़ते हुए मनुष्यों को उपदेश किस प्रकार दिया जा सकता है? और उनको दिया हुआ उपदेश किस प्रकार स्थायी हो सकता है? व्याख्यान में आते हैं तब भी उनकी दृष्टि घड़ी के कांटे पर लगी रहती है। आज के मानव की जिन्दगी घड़ी के कांटे पर ही टिकी हुई है। उठने के साथ ही इसकी भाग-दौड़ प्रारम्भ हो जाती है। केवल मन की ही नहीं तन की भी दौड़ लगाता है। मनुष्य पैसे के पीछे पागल होकर दौड़ रहा है। बाह्य जगत् के सुखों को प्राप्त करने के लिए मिथ्या प्रयत्न करता रहता है किन्तु वास्तविक सुख तो उसकी आत्मा में ही है। भौतिक आनन्द प्राप्त करने के लिए वह टी.वी., रेडियो आदि के कार्यक्रमों में व्यस्त रहता है। क्रिकेट के खेल में किसी ने छक्का लगा दिया वहाँ हर्षोल्लास में चीख उठता है किन्तु जब हार जाता है तो उसकी खुशी गायब हो जाती है। यह वास्तविक नहीं है। सच्चा आनन्द तो स्थिर होता है, स्थाई होता है। गरीब हो या राजा सबको आनन्द की चाहना है। इसीलिए मनुष्य अवकाश के दिन अथवा किसी पर्व के दिन आनन्द की तैयारी में डूब जाता है। वह आनन्द के प्रसंगों की कामना/कल्पना करता रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके जीवन में वास्तविक आनन्द नहीं है। सच्चा आनन्द तो बाह्य पदार्थों में नहीं किन्तु अन्दर/आत्मा में ही छिपा हुआ है किन्तु मनुष्य की दृष्टि बाहर ही भटकती रहती है वह अन्तर जगत् की ओर नहीं देख पाता है।

सामान्यत: जगत् के मनुष्य केवल दो दिनों को आनन्द के दिवस मानते हैं - एक शादी का दिन और दूसरा दिवाली का दिन। शादी के दिन वह राजा होकर घूमता है 'वर राजा कहलाता है' किन्तु दूसरे ही दिन से वह दास बन जाता है। दीपावली के दिन छोटे बालक से लेकर वृद्धजन तक समस्त प्राणी आनन्द में झूलते रहते हैं। जबकि स्वामी रामतीर्थ कहते है - **हर रोज एक शादी है, हर रोज मुबारक बादी है**। मेरे लिए तो प्रतिदिन ब्याह है और प्रतिदिन दिवाली है। सर्वदा आनन्द ही आनन्द है, ऐसा मानने वालों के लिए आनन्द के खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

वक्तृत्व की अपेक्षा श्रोतृत्व महान् कला है ....

वर्तमान में व्याख्यान केवल सुनने की वस्तु बन गई है किन्तु वह केवल श्रवण की चीज नहीं है अपितु जीवन में उतारने की वस्तु है। जिस प्रकार दवा, पानी और भोजन ये कोई देखने की वस्तुएं नहीं हैं। सामने स्वादिष्ट वस्तुओं का थाल भरा हुआ हो और हम उसे केवल देखते ही रहें तो क्या हमारी भूख दूर हो सकती है? दवा की पर्ची को बांचने मात्र से क्या रोग दूर हो सकता है? नहीं, व्याख्यान को जीवन में उतारने से ही जीवन में बदलाव आ सकता है। महापुरुष केवल एक देशना मात्र से तर जाते थे। वक्तृत्व की अपेक्षा श्रोतृत्व महान् कला है। व्याख्यान सुनते-सुनते वृद्धावस्था को प्राप्त हो गए किन्तु स्वभाव में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया। **अखा** कवि कहते हैं - **तीरथ करतां त्रेपन थयां, जपमालाना नाका गया। कथा सुणी सुणी फूट्या कान, तोये न आव्यूं ब्रह्म ज्ञान**। अथवा **सांभल्युं कशुं ने समज्या कशुं, आंखनु काजल गाले घस्युं**। ऐसी ही हमारी स्थिति है।

धर्म के साथ सम्बन्ध कैसा हो ? ....

जिन्दगी में बहुत ओलियाँ की, बहुत उपवास किये, बहुत से आसन घिस डाले तब भी हमारे कषाय और विषय कितने घटे? धर्म

के साथ हमारा सम्बन्ध कैसा है? कोट के समान, लम्बे कुर्ते के समान अथवा शाल के समान? हमने धर्म को कोट अथवा लम्बा कुर्ता बना दिया है। घर के बाहर निकलते समय कुर्ता और कोट पहनकर निकलते हैं और जब घर में आते हैं अथवा दुकान पर बैठते हैं तो उसको उतार कर खूंटी पर टांग देते हैं। इसी प्रकार हम जब मन्दिर अथवा उपाश्रय आदि धर्मस्थानों में जाते हैं उस समय धर्म का कुर्ता, कोट पहन लेते हैं और घर आकर बैठते हैं तो धर्म के चोले को उतारकर खूंटी पर टांग देते हैं यह सत्य है न?

दुकान पर बैठकर अनेक ग्राहकों को शीशे में उतार देते हो। अनेक ग्राहकों को खड्ढे में उतार देते हो, ऐसे उलटे-सीधे कार्य करते हुए मनुष्यों को धर्मी कैसे कहा जा सकता है? शास्त्रकार तो कहते हैं कि धर्म के साथ हमारा सम्बन्ध रक्त-मांस जैसा होना चाहिए। घर में आने पर क्या खून को निकाल कर बोतल में भर देते हैं? चौवीस ही घण्टे जिस प्रकार रक्त-मांस हमारे साथ रहता है उसी प्रकार धर्म भी रक्त-मांस के समान हमारे जीवन में एक रूप होना चाहिए।

दुनिया के प्रत्येक क्षेत्र में किसी भी प्रकार का कार्य करना हो तो हममें योग्यता होनी ही चाहिए। अरे! एक भिखारी को भी रोटी का टुकड़ा प्राप्त करने के लिए मीठे-मीठे वचन बोलने पड़ते है। वही भिखारी आपके पास आकर जबरदस्ती से भीख मांगे तो आप उसे देंगे क्या? कितनी ही आजीजी करने पर वह भिखारी एक रोटी का टुकड़ा प्राप्त करता है। वाणी में मधुर वचन बोलने की योग्यता न हो तो उसे जीवन में कभी भी भीख नहीं मिल सकती। तब फिर धर्म जैसे महादुर्लभ रत्न को प्राप्त करने के लिए योग्यता तो चाहिए ही!

अक्रूरता ....

शास्त्रकार धर्म योग्य श्रावक के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। उसमें से चार गुणों का वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं धर्म के योग्य श्रावक का

पाँचवां गुण अक्रूरता है।

धर्म करने वाला श्रावक क्रूरता रहित होना चाहिए अर्थात् कृत्रिम भावों/बनावटी भावों से दूर रहना चाहिए। क्रूर परिणामी आत्मा धर्म की साधना किस प्रकार कर सकता है? क्योंकि धर्म का मूल ही अहिंसा है। क्या नीव के बिना मकान टिक सकता है? आज बहुत से प्राणी इस प्रकार के देखने में आते हैं कि वे तपस्या तो खूब करते हैं किन्तु उनका क्रोध धमधमाता रहता है। यह देखकर दूसरे लोग कहा करते हैं, क्या इसी को तप कहते हैं? इसकी अपेक्षा तो, नहीं करते तो अच्छा है। हमें तप की अनुमोदना करके पुण्योपार्जन करना चाहिए, जबकि उसके स्थान पर निंदा करके पाप के भागीदार बनते हैं, जिससे धर्म की निंदा होती है। तपस्या तो कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए होती है, उसके स्थान पर धर्म के स्वरूप को नहीं समझने वाले जीव कषायों की वृद्धि करते हैं।

भतीजे द्वारा काका की परीक्षा ....

एक वृद्ध था। वह धार्मिक वृत्ति वाला होने पर भी स्वभाव से अत्यन्त क्रोधी था। घर में और संघ में सब लोग उनसे दूर ही रहना पसन्द करते थे। कोई उनसे बातचीत नहीं करता था। घर में जब वह भोजन करने बैठता था तब नीरव शान्ति छा जाती थी। वह वृद्ध एक समय पालीताणा तीर्थ की यात्रा करने गया। दादा के दर्शन करके वह जब नीचे उतरा उस समय उसे कोई महात्मा मिले। महात्मा ने कहा - भाई! दादा की यात्रा कर ली, कोई नियम ग्रहण किया या नहीं? वृद्ध ने उत्तर में कहा कि मैंने कोई नियम नहीं लिया है। उसी समय पास में खड़े हुए किसी स्वजन ने महात्मा के कान में कहा - साहब! ये स्वभाव से बहुत क्रोधी हैं, ये क्रोध कम करें ऐसा कुछ करिए। महात्मा ने उस वृद्ध को समझाकर क्रोध नहीं करने की प्रतिज्ञा करवाई। वृद्ध यात्रा करके जब घर लौटे और दूसरे दिन जब भोजन करने के लिए बैठे। उसी समय छोटी बहू के हाथ से घी का पात्र गिर गया, घी फैल गया। बहू तो कांपने लगी, सोचा! अभी ससुरजी

का बॉयलर फट जाएगा, किन्तु ससुरजी तो चुपचाप भोजन कर खड़े हो गये। यह देखकर घर के समस्त सदस्य स्तब्ध रह गए। ससुरजी का बदला हुआ स्वभाव देखकर पुत्रवधू उनकी खूब भक्ति करने लगी। घर के लोग एवं संघ के लोग भी उनके स्वभाव की प्रशंसा करने लगे। एक समय उनके भतीजे ने उनकी परीक्षा ली। उसने अपने घर भोजन रखा, समस्त सदस्यों को आमंत्रित किया किन्तु काका को आमंत्रित नहीं किया। आमंत्रित नहीं होते हुए भी काका भोजन के समय उसके वहाँ पहुँच गये। भोजन करने बैठे उसी समय भतीजे ने अपने काका का तिरस्कार किया, तब भी काका ने तनिक भी गुस्सा नहीं किया। अन्त में भतीजा काका के चरणों में गिरकर माफी मांगने लगा और उनकी अत्यधिक प्रशंसा की। कषाय का त्याग करने से उस वृद्ध का जीवन धर्म से ओत-प्रोत हो गया और वह अन्त में मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में गया। वस्तुतः जो व्यक्ति स्वभाव से अक्रूर होता है वही सच्चे अर्थ में धर्म की आराधना कर सकता है। जैसे-तैसे व्यक्ति को धर्म जैसा दुर्लभ रत्न कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। उसको प्राप्त करने के लिए योग्यता अर्जित करनी पड़ती है। इस प्रसंग को हम कल प्रतिपादन करेंगे।

आप जानते हैं हमें धर्म का फल क्यों नहीं मिलता?
क्योंकि हम गुणों तक पहुंचते ही नहीं केवल
बाह्य धर्म में ही लीन बने हुए हैं।

अक्रूरता

भादवा वदि ८

धर्म गुण प्रधान है . . . .

धर्म के मुख्यत: दो विभाग हैं - १. गुणकाण्ड और २. क्रिया काण्ड। गुणकाण्ड में विनय, विवेक, सदाचार, क्षमा, सज्जनता आदि को ग्रहण किया जाता है, और क्रियाकाण्ड में शेष क्रियाओं को ग्रहण किया जाता है। गुणकाण्ड धर्म को पुष्ट करता है किन्तु आज हम लोग केवल क्रियाकाण्ड को ही पकड़कर बैठे हैं, गुणों का तो हम विवेकरहित होकर पूर्णतया नाश कर देते हैं। गुणहीन धर्म प्राणरहित शव के समान है। धर्म का आचरण करने वाला अक्रूर होना चाहिए अर्थात् क्रोध, अभिमान, माया आदि दोषों से रहित होना चाहिए। धर्म करते हुए भी यदि हृदय में अहंकार भरा हुआ है तो धर्म उसका स्पर्श नहीं कर सकता और जहाँ अहंकार होगा वहाँ कठोरता, तुच्छता आदि अवश्य होंगे ही।

कुन्तल रानी . . . .

एक राजा था। उसकी अनेक रानियाँ थी। उनमें कुन्तल देवी नामक पटरानी थी। राजमहल में एक जिनमन्दिर था वहाँ कुन्तल देवी नियमित रूप से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ द्रव्यों द्वारा प्रभु की पूजा-भक्ति किया करती थी। राजा भी पूजा हेतु समग्र सामग्री की पूर्ति किया करता था। वह कुन्तल रानी प्रतिदिन हीरा, माणिक, मोतियों से प्रभुमूर्त्ति की अंग-रचना किया करती थी। अन्य रानियाँ उसकी भक्ति की खूब अनुमोदना करती थीं किन्तु कुन्तल देवी इस प्रभु भक्ति के बहाने अपने गर्व का पोषण करती थी और गर्व से फूलकर कुप्पा हो गई थी। घमण्ड आने के कारण उसके जीवन में कठोरता भी आ गई थी और वह अन्य रानियों को तुच्छ दृष्टि से देखती थी, तिरस्कार करती थी। फिर भी उन रानियों का कुन्तल देवी के प्रति पूज्यभाव था। स्वयं की भक्ति की

प्रशंसा सुनकर वह मन में बहुत हर्षित होती थी। समय अपना कार्य किया करता है, किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह कुन्तल देवी काल आने पर मृत्यु को प्राप्त हुई।

एक समय कोई ज्ञानी महात्मा राजमहल में पधारते हैं। देशना के अन्त में रानियाँ गुरु भगवन्त से पूछती हैं - हे गुरुदेव! हमारी बड़ी बहिन काल-धर्म प्राप्त करके कहाँ उत्पन्न हुई होगी? ज्ञानी गुरुदेव कहते हैं - तुम्हारी बड़ी बहिन मरण धर्म को प्राप्त कर इसी राजमहल में कुतिया के रूप में उत्पन्न हुई है। यह सुनकर सारी रानियाँ स्तब्ध रह जाती हैं और ज्ञानी गुरुदेव से पूछती हैं - हे गुरुदेव! वह तो खूब भक्ति करती थी। भक्तिमति होने पर भी उसकी यह दुर्गति क्यों? गुरु महाराज कहते हैं - बहनों! धर्म करना अलग वस्तु है और धर्म की आराधना करना पृथक् वस्तु है। आज चारों ओर धर्म खूब बढ़ रहा है, पर्वदिवसों में तपस्याएं भी खूब हो रही हैं किन्तु जहाँ पर्युषण पर्व पूर्ण हुए अथवा तपस्या पूर्ण हुई, चौमासा पूर्ण हुआ और आराधनाएं पूर्ण हुई कि हमारा उपाश्रय पूर्णरूप से खाली हो जाता है। कहावत है - **कर्यां संवत्सरीना पारणां अने मूक्यां उपाश्रयना बारणां**। आज ऐसी ही परिस्थिति नजर आती है। भले ही मासक्षमण किया हो किन्तु पारणे के बाद रात्रिभोजन और कन्द-मूल आदि का खाना प्रारम्भ हो जाता है। धर्म कहीं भी निशानी के रूप में भी देखने को नहीं मिलता है। महीना भर भूखा रहने के कारण पारणे के बाद तो खाने पर टूट पड़ते हैं। सारे दिन खाने की चक्की चालू रहती है। यदि धर्म सच्चे अर्थ में जीवन में परिणमित हो जाए तो एक नवकारसी का प्रत्याख्यान भी अनन्त कर्मों को भस्म करने वाला होता है।

कषाय-रहित धर्म का परिणाम ....

रानी ने धर्म किया, किन्तु उसके साथ में अहंकार का भी उतना ही पोषण किया। इसी कारण उसकी ऐसी दुर्गति हुई। ज्ञानी गुरु के मुख से यह सुनकर रानियों को अत्यन्त दु:ख हुआ, और वे जहाँ कुतिया के

रूप में रानी फिर रही थी वहाँ आकर खड़ी हो जाती हैं। कुतिया इन सबको ध्यान पूर्वक देखती है। उसके स्मरण में आता है कि मैंने इन सबको कहीं देखा है, विचारों में गोते लगाती हुई वह गहराई में उतर जाती है। विचारों की गहराई के कारण वह मूर्च्छा को प्राप्त होती है और अन्त में उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है तथा वह अपना पूर्वजन्म का अनुभव करती है। पूर्वजन्म को देखते ही उसे गहरा आघात लगता है। इतनी उत्कृष्ट आराधना करने पर भी एक छोटे से अवगुण ने मुझे कहाँ ला पटका है? इस मानसिक चोट के कारण वह अन्न-पानी का त्याग कर देती है, मरण को प्राप्त कर सद्‌गति को प्राप्त करती है। एक मान कषाय यदि मनुष्य को दुर्गति में फेंक देता है तो चारों कषायों से युक्त जिसका जीवन हो उसकी क्या दशा होती होगी?

चारों कषाय चारों गतियों में विभक्त हो जाते हैं। अधिकांशतः विशेष क्रोध करके नरक में जाता है। विशेष रूप से मान - कषाय करने वाला व्यक्ति मनुष्य गति में जाता है। अधिकांशतः माया पशु योनि में घसीट कर ले जाती है और मुख्यतः लोभ देव गति में रहा हुआ है। मान यह मीठा जहर है। मनुष्य समझ भी नहीं पाए उससे पहले ही वह उसे समाप्त कर देता है। धर्म करने वाला सुश्रावक कषायों से मुक्त होता है।

कर्म खपाने के लिये कोई सरल और उत्तम साधन है तो तप।

शरीर को निरोगी रखने के लिए भी तप से उत्तम कोई औषध नहीं है। तप शरीर और मन दोनों को निर्मल एवं पवित्र करता है।

पापभीरुता

भादवा वदि ९

सामान्य, विशेष का निर्माता है . . . .

विशेष का निर्माण सामान्य से होता है। मिट्टी से घड़ा, पत्थर से प्रतिमा। मिट्टी सामान्य है और घड़ा विशेष है। पत्थर सामान्य है और प्रतिमा विशेष है। मिट्टी के अभाव में घड़ा कैसे बन सकता है। पत्थर ही न होगा तो प्रतिमा कैसे बनेगी। उसी प्रकार सामान्य धर्म न होगा तो विशेष धर्म कहाँ से आएगा। अत: पूर्व में सामान्य धर्म में प्रवेश होना चाहिए। सामान्य धर्म सबके अनुकूल होता है। उस सामान्य धर्म में जीवन को जीने की कला प्राप्त होती है और विशेष में सामायिक-पोषह, प्रतिक्रमण आदि विविध अनुष्ठान आते हैं। पहले सामान्य होंगे तभी तो विशेष बन सकेंगे, किन्तु आज सामान्य धर्म प्राय: लुप्त हो गया है।

पापभीरु . . . .

धर्म का आचरण करने वाला श्रावक कैसा होना चाहिए इसका वर्णन चल रहा है। उसमें धर्मार्थी श्रावक का छठा गुण पापभीरुता है। जिसके जीवन में पापों के प्रति भय होगा वही योग्य बन सकता है। आज तो प्राय: यह देखने में आता है कि अधिकांशत: पाप के व्यापार श्रावकों के ही हाथ में है। कहलाता है श्रावक, किन्तु उसका व्यापार १५ कर्मादानों से ही चलता रहता है। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों / कारखानों का मालिक होता है। जिसमें प्रतिदिन करोड़ो जीवों की हिंसा होती है। हम एक कारखाने में गये थे। उस कारखाने में कप-प्लेट बनते थे। कप-प्लेट के स्वरूप को देने के लिए मिट्टी को कई दिनों तक गीली रखी जाती है और बाद में उस गिली मिट्टी को सांचे में डालते हैं। कई दिनों के बाद जब वह मिट्टी सूख जाती है तो उसे भट्टी में डाल दिया जाता है। वह भट्टी चौवीसों घन्टे जलती रहती है। उस भट्टी की तपन से १० फुट दूर खड़े हों तब भी

उसकी गर्मी से हम पीड़ित हो जाते है। ऐसी प्रज्वलित भट्टी तीन दिन तक उसको तपाती है। फिर उस निर्मित पात्रों पर चित्रकारी का कार्य होता है। ऐसे पापपूर्ण कत्लखाने में तैयार किए हुए वे कप-प्लेट आपके शो-केस की शोभा बढ़ाते है और वे अनेक जीवों के पाप-बंधन के कारण बनते हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु यह बहुत बढ़िया है ऐसा कहकर जब हम प्रशंसा करते हैं तो उस चीज की बनावट में हुए पाप के हिस्सेदार हम भी बन जाते हैं। षट्काय के जीवों का कचूमर निकल जाता है अर्थात् नष्ट हो जाते है। तुम्हारे घर की प्राय: समस्त वस्तुएं ऐसे षट्काय के जीव हिंसा से ही निर्मित होती है। अनेक त्रसकाय के जीव भी इसमें आकर गिरते रहते हैं और मौत को प्राप्त करते हैं। ऐसे कत्लखानों के मालिक होकर धर्मस्थानों में लाखों रुपये खर्च करते हैं। व्याख्यान आदि में अग्रिम पंक्ति में बैठते हैं, उनको धर्म स्पर्श कर गया हो कैसे कह सकते हैं?

व्यापार कब धर्म बनता है ....?

श्रावक कुल-परम्परा से चल रहा व्यापार करता है, किन्तु वह किस प्रकार और कैसे करे? शास्त्रकार कहते हैं – विश्व में जो व्यापार निन्दनीय न हो वही करें और स्वयं की पूंजी के अनुसार न्याय पूर्वक करें। शास्त्रकारों ने व्यापार को भी धर्म के अन्तर्गत लिया है, क्योंकि गृहस्थ का कार्य व्यापार के बिना चल ही नहीं सकता। अत: वह न्याययुक्त ही होना चाहिए। न्याय से प्राप्त धन मनुष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है और सन्मति प्रदान करता है, जबकि अन्याय से प्राप्त धन जीवन की शान्ति हरण कर लेता है। अन्याय के धन से बनाए गये आज के मन्दिरों में प्रभाव और अतिशय दृष्टिगोचर ही नहीं होता है, क्योंकि नींव ही पवित्र नहीं है। अत: उस अनीति पूर्वक अर्जित धन से निर्मित तीर्थ किस प्रकार पवित्र बन सकते हैं? हम प्रतिदिन मूलचन्द रचित आरती बोलते हैं। मूलचन्द मूलत: वड़नगर का निवासी था। जाति से भोजक था। प्रत्येक पूर्णिमा को पैदल चलकर केशरियाजी जाता था। अत्यन्त गरीब था। ऐसे

गरीब भोजक की बनाई हुई आरती आज गांव-गांव में गाई जाती है। क्योंकि, उस आरती में उसके पवित्र भाव समाविष्ट हैं। आज करोड़ों रुपयों की बोली बोली जाती है किन्तु वह भावरहित होती है। अनेक बार देखा-देखी - प्रेरणा से, प्रतिस्पर्धा से बोली बोलते हैं। अन्याय का धन चला जाता है साथ ही वह न्यायोपार्जित धनभी ले जाता है और बदले में अशान्ति, क्लेश और रोग आदि प्रदान कर जाता है। अतः पापभीरु श्रावकों को पाप-वृद्धि करने वाले और अशान्ति को पैदा करने वाले व्यापार का त्याग करना चाहिए। चाहे वह व्यापार वंश-परम्परा से क्यों न चला आया हो। जिस प्रकार सुलस ने त्याग किया वैसे ही। वह सुलस कौन था?

पापभीरु सुलस . . . .

राजगृह नगर में कालसौकरिक नामक कसाई रहता था। उसके पुत्र का नाम सुलस था। वह कालसौकरिक कसाई प्रतिदिन ५०० पाड़ों (भैंस के बछड़ों) का वध करता था। इस दुष्कर्म से उसने सातवीं नरक के योग्य पापों का बंधन किया। उसका अन्तकाल नजदीक आ गया। कहा जाता है - **जेवी गति तेवी मति**। अनेक जीवों के घात से नरक गति का आयुष्य बन्ध जाने के कारण अन्त समय में उसकी विपरीत मति हुई। उसके शरीर की समस्त धातुएं और पाँचों इन्द्रियों से वह शक्तिहीन हो गया। उसके शरीर में अत्यन्त पीड़ा होने लगी। सुलस पिता की खुब सेवा करता है। पिता के शरीर में उत्पन्न दाहज्वर को शान्त करने के लिए चन्दन आदि का विलेपन करता है, कोमल शय्या पर सुलाता है, शीतल जल पिलाता है किन्तु ऐसी सुन्दर सेवा भी उसको सुख प्रदान करने के स्थान पर दुःख ही प्रदान करती है। सुलस पिता की वेदना व्यथा से अत्यधिक व्यथित होता है। वह सुलस कसाई का पुत्र होने पर भी बहुत ही संस्कारशील था, विनयी था और मन्त्री अभयकुमार का मित्र था। उसने अपनी मनोव्यथा बुद्धिनिधान अभयकुमार को सुनाई और उससे

इसको दूर करने का उपाय पूछा। अभयकुमार ने कहा – तुम्हारे पिता की समस्त धातुएं विपरीत हो गई हैं अतः उनके शरीर पर चन्दन के स्थान पर विष्टा का विलेपन करो, कोमल शय्या के स्थान पर कांटो वाली शय्या पर सुलाओ, शीतल जल के स्थान पर गरमागरम पानी पिलाओ और कर्ण मधुर संगीत के बदले गधे और ऊंट का स्वर संगीत सुनाओ। अभयकुमार के परामर्श के अनुसार सुलस ने उसी प्रकार सेवा करनी प्रारम्भ की। इस प्रकार की सेवा से वह कालसौकरिक कसाई बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा – पुत्र! इस प्रकार की सेवा तूने आज तक क्यों नहीं की? यह सब कुछ मुझे बहुत अच्छा लगता है। कुछ समय के पश्चात् मृत्युवरण कर वह सातवीं नरक में गया। उसके क्रियाकर्म के पश्चात् स्वजनों ने सुलस से कहा – भाई! तेरे पिता का जो व्यापार चला आ रहा था उसे तू सम्भाल ले। सुलस ने अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसने अपने पिता की अन्तिम स्थिति देखी थी। वह समस्त स्वजनों को समझाता है किन्तु वे समस्त स्वजन उस पर दबाव डालते हैं और कहते हैं – तू क्यों डरता है? तेरे दुःख में हम सब भागीदार बनेंगे। उन सबको शिक्षा देने के लिए सुलस एक कुहाड़ा मंगाता है और सबके देखते हुए अपने पग पर उस कुहाड़े से वार करता है। तत्काल ही वेग से खून निकलता है और चारों तरफ खून ही खून नजर आता है। वह सुलस अपनी माता आदि को कहता है – मुझे बहुत पीड़ा हो रही है मुझे किसी प्रकार बचाओ। मेरी इस अपार वेदना में कोई भागीदार बनो और कुछ वेदना को बांट लो। स्वजन कहते हैं – अरे! तूने जान बुझकर अपने पग पर कुहाड़ा मारा है तो अब उस पीड़ा से चिल्लाने का क्या अर्थ है, चिल्लाना बेकार है। अरे, वेदना कोई ले सकता है क्या? सुलस कहता है – यदि आप लोग मेरी वेदना में भागीदार नहीं बन सकते तो बतलाईये मैं जो पाप करूँगा तो उसमें आप कैसे भागीदार बन सकोगे? मुझे पाप का कार्य करके नरक में नहीं जाना है। अन्त में वह सुलस अभयकुमार के साथ भगवान के पास जाकर श्रावक

धर्म स्वीकार करता है और अन्त में देवलोक को जाता है। इसी प्रकार पापभीरु श्रावकों को वंश-परम्परा से आया हुआ पापमय व्यापार हो तो नहीं करना चाहिए। पाप से डरने वाला व्यक्ति ही धर्म का आचरण कर सकता है। पाप से डरने वाली आत्मा ही अनेक अकरणीय कार्यों से बच सकती है और वह किसी का बुरा हो इस प्रकार की कामना नहीं करता है। उसकी सद्भावना निरन्तर बढ़ती जाती है, कोई उसका दुश्मन नहीं रहता है, अत: वह अजातशत्रु बनकर सम्यक् प्रकार से धर्म की आराधना कर सकता है।

जगत् के पदार्थों की चाहे जितनी खोज हो, चाहे जितने पदार्थों को हम आँखों में बसाने के लिये तैयार हो परन्तु कब तक? आँख मूंद जाने तक ही न? समस्त शोध/खोज कुछ समय तक और कुछ प्रश्नों का ही समाधान कर सकती है किन्तु जन्म-जन्म के प्रश्न का क्या समाधान कर सकती है? नहीं, प्रत्येक जन्म के प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति केवल धर्म में ही है। दूसरा कोई भी पदार्थ कितना ही अमूल्य क्यों न हो किन्तु वह समाधान नहीं कर सकता।

प्रभु के साथ चित्त जोड़ो

भादवा वदि १०

पूर्वजन्मों के संस्कार . . . .

चेतना तीन प्रकार की होती है – १. जाग्रत, २. अर्द्धजाग्रत, ३. अजाग्रत (सुषुप्त)। जाग्रत और अर्द्धजाग्रत चेतना की अपेक्षा अचेतन अर्थात् सुषुप्त चेतना अनेक दोषों से युक्त है। जिस प्रकार वर्षा आती है और जंगल में स्वत: ही घास उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार अचेतन मन में रही हुई वासनाएं कुसंस्कार का निमित्त मिलते ही तत्काल ही बाहर आ जाती है अर्थात् सक्रिय हो जाती है। यह जीवात्मा अनेक योनियों में भटक कर आयी है। सांप की योनि में फुंकार मारकर अनेकों को डंसा होगा। बिच्छु के भव में डंक मारे होंगे। गधे की योनि में लातें मारी होंगी। कुत्ते की योनि में भों-भों किया होगा। इस प्रकार प्रत्येक योनि में उस योनि के अनुरूप तद्-तद् स्वभावों का आचरण किया होगा। आयुष्य पूर्ण होने पर उस योनि के शरीर के छूट जाने पर भी जो स्वभाव के गाढ़ संस्कार होते हैं वे भीतर ही रह जाते हैं। शरीर और जीव के बीच में वस्त्र के समान सम्बन्ध है। वस्त्र के जीर्ण होने पर मनुष्य उसका त्याग कर नया वस्त्र धारण कर लेता है। क्या वस्त्र बदलने के साथ उसका स्वभाव भी बदल जाता है? शोक के समय मनुष्य काले वस्त्र पहनता है, उससे क्या वह कृष्णलेश्या वाला बन जाता है? सफेद वस्त्र पहनने से क्या वह शुक्ललेश्या वाला बन जाता है? नहीं, वस्त्र परिवर्तन मात्र से अन्तर में रही हुई जीवात्मा नहीं बदलती है। उसी प्रकार उस-उस योनि के शरीर रूपी वस्त्र बदलने पर भी उसके अन्दर रहे हुए स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। आज हमने मानव शरीर रूपी वस्त्र धारण किया है किन्तु हमारे अन्तर में ८४ लाख योनि के स्वभाव पड़े हुए हैं। ये स्वभाव हमारे

अजाग्रत मन में बसे हुए हैं। निमित्त मिलने के साथ वे बाहर आ जाते हैं। कोई व्यक्ति बहुत बोलता रहता है अथवा बड़-बड़ करता रहता है तो हम नहीं कहते - क्या कुत्ते के समान भौंक रहा है? हमें कोई सच्ची सलाह देने के लिए आता है किन्तु उसकी बात हमें रुचिकर प्रतीत नहीं होती तो क्या हम गधे के समान उसको लात मारेंगे या नहीं? हम स्वभाव से कुत्ते के समान हैं, गधे के समान हैं, बिच्छु के समान हैं, सांप के समान हैं और गिद्ध के समान हैं। जिस प्रकार गिद्ध वृक्ष की ऊंची से ऊंची डाली पर बैठकर अपनी नजर चारों ओर घूमाकर भक्ष की खोज करता है उसी प्रकार हम सबकी नजर दूसरों को लूटने के लिए घूमती रहती है या नहीं? ये समस्त कुसंस्कार हमको चारों गति में भटकाते हैं, रखड़पट्टी करवाते हैं।

प्रभु का स्मरण ही प्रभु-शरण है ....

अनादिकाल के बन्धे हुए इन संस्कारों को हम किस प्रकार निकालें? शास्त्रकार कहते हैं कि प्रभु के साथ सम्बन्ध स्थापित करो, उनका नाम बारम्बार याद किया करो। प्रभु के नाम में अपूर्व शक्ति है, किन्तु परमात्मा को भूल कर चलने वाली आज की दुनिया पाप के गड्ढे में गिर रही है। परमात्मा की शरण और परमात्मा का स्मरण तीर्थंकर बनाता है। श्रेणिक महाराज ने जीवन के प्रारम्भ में अनेक पाप किए थे, किन्तु जब उन्हें सच्ची दृष्टि प्राप्त हुई और भगवान् महावीर के स्मरण में लयलीन बने तो उन्होंने तीर्थंकर बनने की योग्यता प्राप्त कर ली। भगवान् महावीर के स्मरण को जीवन के साथ ऐसा एकमेक कर लिया कि उनकी चिता की लकड़ी में से भी वीर-वीर ऐसी ध्वनि निकलती थी। अतः भावी चौवीसी में उनके शरीर का प्रमाण, वर्ण आदि समस्त भगवान् महावीर के समान ही होंगे। आज हमारे चित्त में परमात्मा के स्थान पर परपदार्थ भरे हुए हैं। चौवीसों घण्टे उन पदार्थों के सम्बन्ध में ही विचारणा चलती है। अरे! परमात्मा की भक्ति करने हेतु मन्दिर में

जाते हैं वहाँ भी हमारा मन संसार में ही लिप्त रहता है। समस्त प्रवृत्तियों में सिर्फ भगवान् ही छा जाने चाहिए जबकि उसके स्थान पर संसार छाया हुआ रहता है भगवान् का नाम लेने के लिए भी हमारे पास समय नहीं है। हम कोई प्रतिदिन लाखों का दान नहीं देते हैं अथवा सर्वदा कोई मासक्षमण नहीं करते हैं किन्तु भगवान् के नाम का स्मरण तो कर सकते हैं न?

प्रभु का नाम स्मरण सस्ता होने पर भी सक्षम है ....

प्रकृति की हमारे ऊपर कितनी कृपा है कि वह स्वयं विचार करती है कि मैं हर वस्तु महँगी कर दूँगी तो मनुष्य किस प्रकार जीवन-यापन करेगा? इसीलिए वह हमारे उपयोग में आने वाली अधिक से अधिक वस्तुओं को सस्ता बनाती है। क्या हवा-पानी के बिना कुछ समय भी हम रह सकते हैं? हम तो हवा के खूब पराधीन हो गये हैं। घंटा, आधा घंटा यदि बिजली चली जाए और पंखा बंद हो जाए तो हमारी कैसी दशा हो जाती है? एक-दो दिन पानी नहीं मिले तो हम कितना तूफान मचा देते हैं। अनाज भी हमारे लिए बहुत उपयोगी है अतः सोने-चांदी की अपेक्षा वह सस्ता रखा है। सोना, चांदी और मोती कितने अधिक किमती हैं? किन्तु उनके बिना भी मनुष्य का काम चलता है। सोना-चांदी आदि हो ही ऐसी अपेक्षा नहीं होती है किन्तु अनाज, हवा, और पानी तो मिलना ही चाहिए। इन सबसे सस्ती और अत्यन्त उपयोगी वस्तु है - प्रभु का नाम स्मरण सद्विचारों में निवास। केवल विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता है। पदार्थों के स्थान पर परमात्मा को स्थापित करना है, फिर देखो इस नाम का चमत्कार!

हम तो पदार्थों के दास बन गए हैं। यही कारण है कि हम ध्यान करते हैं तो ध्यान में भी वे ही पदार्थ नजर आते हैं। पदार्थों के स्थान पर यदि हम अरिहन्त का ध्यान करते हैं तो अरिहन्त हमारी चेतना में आकर खड़े हो जाते हैं। चेतना एक ऐसी वस्तु है कि उसे जिस प्रकार का निमित्त

प्राप्त होता है वह उसी रंग की बन जाती है और कुछ समय के लिए मनुष्य उसी के रंग में रंग जाता है।

तन आसन पर, मन कहाँ . . . .?

एक स्त्री थी। जो बहुत ही समझदार और चतुर थी। उसके ससुर का सूत का बहुत बड़ा व्यापार था। सूत बुनने के लिये वह हरिजनों को दे देता था। व्यापार बहुत फैला हुआ होने के कारण उसके मन में सदा सूत और हरिजन ही बसे रहते थे। एक समय जब वह सेठ सामायिक में बैठा था तब उससे मिलने के लिए कोई आता है और पूछता है - क्या सेठ घर में हैं? बहू जवाब देती है - सेठ तो हरिजनों के यहाँ गए हैं। पूछने वाला व्यक्ति विदा हो जाता है किन्तु सामायिक में बैठे हुए उसके ससुर विचार करते हैं - बहू ने ऐसा उत्तर क्यों दिया? बहू तो बहुत ही चतुर और समझदार है। हो न हो इसके उत्तर में कोई न कोई रहस्य अवश्य होगा। सामायिक पूर्ण होते ही ससुर अपनी बहू से पूछते हैं - हे पुत्री! तूने ऐसा उत्तर क्यों दिया? बहू कहती है - पिताजी! आप सामायिक में आसन पर बैठे अवश्य थे किन्तु आपकी आकृति से मैं आपके भावों को पहचान गई थी कि आपका मन तो किसने कितना सूत काता है? किसको कितना सूत देना है? इन विचारों में ही आपका मन घूम रहा था। इसीलिए मैंने उन्हें कहा - ससुर जी हरिजनों के यहाँ गए हुए हैं। आप ही बताइये मै यह नहीं कहती तो क्या कहती? सामायिक करते हुए तो मन समभाव में रहना चाहिए। प्रभु के ध्यान में लीन होना चाहिए। जबकि आज हमारी सामायिक का सम्बन्ध केवल कटासन और घड़ी मात्र रह गया है। सामायिक लेते हैं उसी समय से घड़ी की ओर नजर रहती है। यदि हम प्रतिदिन १० सामायिक भी करें तो क्या हमें शान्ति मिल सकती है? समस्त आराधनाएं सार्थक कब बनती हैं? दिमाग जब समस्त विचारों से शून्य होकर उसी में तन्मय

बन जाता है, तभी वह सार्थक होती है। अनन्त काल से चित्त में अज्ञान रूपी अंधेरा भरा हुआ है। विषय और कषाय भरे हुए हैं। इस अन्धकार को दूर करने के लिए केवल प्रभु नाम रूपी किरण/प्रकाश की आवश्यकता है। कुछ समय के लिए ही सही, यदि हमारा प्रभु के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए तो हमारा कल्याण हो जाए।

अशठता

भादवा वदि ११

भगवान् मल्लिनाथ . . . .

धर्म का अधिकारी मनुष्य किस प्रकार का होना चाहिए इसके लिए पूज्य शान्तिसूरीश्वरजी महाराज कहते हैं – मनुष्य अशठ / दुष्टता-रहित होना चाहिए, उसका जीवन दम्भरहित होना चाहिए अर्थात् माया कपट से रहित होना चाहिए। मायावी मनुष्य यदि धर्म करता है तो वह निष्फल जाता है अथवा मनुष्य को सामान्य योनि में ले जाने वाला बनता है। भगवान् मल्लिनाथ ने पूर्वजन्म में माया से आराधना की थी इसीलिए स्त्रीवेद कर्म का बन्धन किया था। पूर्वजन्म में छः मित्र थे। छहों मित्रों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की थी। भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने विचार किया कि मैं सबसे आगे निकल जाऊं। सोचा – अभी तक जो तप,जप,ध्यान करते हैं वे छहों समान रूप से करते हैं, इनसे आगे मैं कैसे निकल सकता हूँ? उनसे आगे निकलने के लिए उन्होंने गुप्त रूप से मायावी बनकर तपस्या प्रारम्भ की। तपस्या के पारणे के दिन सब लोग वापरने / खाने के लिए बैठ जाएं उस समय भगवान् मल्लिनाथ का जीव कहता – आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है इसीलिए मैं उपवास करता हूँ। इस प्रकार माया कपट से किए हुए तप का परिणाम यह आया कि वे प्रथम गुणस्थान पर पहुँच गये। अर्थात् मिथ्यात्व और स्त्रीवेद का बन्धन किया। आराधना बहुत उन्नत थी किन्तु कपट पूर्ण थी। आराधना से उन्होंने तीर्थंकर नाम का बन्धन अवश्य किया किन्तु साथ ही स्त्रीवेद का बन्धन भी।

दम्भ का बोलबाला . . . .

आज समाज में अधिकांशतः दम्भ का आचरण बहुत बढ़ गया है। मनुष्य अच्छे कार्य के लिए नहीं किन्तु दिखावट के लिए सब कुछ करता है। अरे! साधर्मिक वात्सल्य करेगा तो भी लोक दिखावे के लिए।

हम व्यवहार में बोलते हैं - भाई! जितना चाहे खर्चा हो जाए किन्तु मेरी वाहवाही हो इसका ध्यान रखना। साधर्मिक भक्ति का नाम-निशान भी नहीं होता है। मनुष्य कभी बोलियों में लाखों रुपयों की बोली बोलता है। इस बोली के पीछे लक्ष्मी का सदुपयोग हो यह भावना नहीं रहती है बल्कि उसके स्थान पर यह कामना रहती है कि मेरा नाम हो। उस नाम के बल पर लड़के-लड़कियों के वैवाहिक घर भी अच्छे मिल जाएं। जो लगभग इस प्रकार की गणना करके धर्म में व्यय करते हैं उन मनुष्यों का जीवन धर्ममय कैसे हो सकता है?

माता-पिता की प्रतिष्ठा बिना प्रभु की प्रतिष्ठा कैसी ....?

एक समृद्धिशाली सेठ थे। उन्होंने घर में ही मनोरम एवं दर्शनीय गृहमन्दिर बनवाया। पधराने के लिए भगवान् को लाए, प्रतिष्ठा के लिए किसी प्रसिद्ध आचार्य की खोज करने लगे। वैसे तो हम किसी दिन भी उपाश्रय की सीढ़ियों पर भी नहीं चढ़ते हैं किन्तु जहाँ स्वयं का प्रसंग आता है तो स्वयं की कीर्ति और शोभा के लिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आचार्य की खोज करते हैं। इस सेठ को भी खोजते-खोजते प्रसिद्ध आचार्य महाराज मिल गए। समाज में वाहवाही हो इसीलिए आचार्य महाराज का प्रवेशोत्सव भव्यातिभव्य रूप में बैण्ड-बाजों के साथ करवाया। आचार्य महाराज लम्बा विहार करके आए थे इसीलिए वे दोपहर के समय में आराम कर रहे थे। उसी समय एक बुढ़िया माजी लकड़ी का टेका लेकर धीरे-धीरे उपाश्रय में प्रवेश करती है। उसके मैले-कुचेले कपड़े थे। आचार्य महाराज को झपकी आ गई थी। ज्यों ही लकड़ी की टक-टक आवाज सुनी त्यों ही आचार्य महाराज जग गये। आचार्य महाराज बुढ़िया माँ को देखकर पूछते हैं - क्यों माजी मजे मे तो हो? कैसे आई हो? बुढ़िया उत्तर देती है - बापजी! आप यहाँ कैसे आए हो? आचार्य महाराज कहते हैं - हम तो प्रतिष्ठा कराने के लिए आए हैं। बुढ़िया कहती है - यह प्रतिष्ठा नहीं होगी। क्यों? जिस घर में देवों के समान माँ-बाप अपमानित हो वहाँ भगवान्

कैसे पधार सकते हैं? माँ-बाप जीते जागते देव हैं किन्तु आज इस युग में जिस प्रकार मौसम के अनुसार पलंग का स्थान बदल दिया जाता है, सर्दी में कमरे में सोते हैं, गर्मी में जहाँ ठंडी-ठंडी हवा आती हो ऐसे स्थान पर सोते हैं और चौमासे में जहाँ भीगने का डर न हो वैसे स्थान पर चले जाते हैं। उसी प्रकार आज माँ-बाप के जितने पुत्र हों उतने ही उनके मकान और व्यवस्थायें होती हैं। प्राचीन काल में भोजक (गायन द्वारा भगवान् की भक्ति करने वाले) के लिए दिन निश्चित होते थे उसी प्रकार आज माँ-बाप के लिए भी बारी-बारी से नम्बर आता है। अत्यन्त ही करुण और खेदजनक स्थिति है आज के वृद्ध मनुष्यों की। तीर्थंकर परमात्मा भी सर्वदा माता-पिता को नमस्कार करने के लिए जाते थे। कहावत है - **जे मातनो बोल कदी न लोपे, ते विश्वमांहि सूरज जेम ओपे।** अर्थात् जो माता-पिता की आज्ञा का कभी भी उल्लंघन नहीं करता है वह सूर्य के समान शोभा प्राप्त करता है।

लाल बहादुर शास्त्री पूर्ण रूप से मातृभक्त थे। जब भी वे बाहर जाते अथवा अन्य देशों से वार्ता करने के लिए जाते थे तो उससे पूर्व स्वयं के वृद्ध माता-पिता का आशीर्वाद अवश्य लेते थे। उस समय माता कहती थी - हे वत्स! ईश्वर तुम्हारे साथ रहे। बस इतना सा आशीर्वाद लेकर वे जाते थे और कठिन से कठिन काम भी सरलता के साथ करके आते थे। एक समय पाकिस्तान के मुख्यमन्त्री अय्युबखान से मिलने के लिए जाना था। लाल बहादुर शास्त्री भी माँ का आशीर्वाद लेकर निकले। अय्युबखान लम्बे डील-डौल के आदमी थे और शास्त्रीजी ठिगने थे। अय्युबखान ने मजाक में कहा - शास्त्रीजी, आप तो बहुत वामन हैं। शास्त्रीजी ने तत्काल ही निर्भीक होकर उत्तर दिया - इसीलिए तो आपको झुकना पड़ता है। लम्बे मनुष्य को ठिगने आदमी के साथ बात करते समय झुककर के बात करनी पड़ती है। ऐसे बेधड़क उत्तर देने की शक्ति माँ के आशीर्वाद से ही प्राप्त होती है। शास्त्रीजी ने बहुत कम समय राज्य किया किन्तु उन्होंने

उस अल्प समय में भी बहुत सारे अच्छे काम किए। दुनिया आज भी उनको याद करती है। माता के खून की एक बूंद भी संतान के हित में रंगी हुई होती है।

माँ देखती है आते हुए और पत्नी देखती है लाते हुए ....

लड़का कहीं भी बाहर गया हो किन्तु माँ उसकी प्रतीक्षा करती रहती है। वह राजी-खुशी घर पहुँच जाता है उससे माँ को आनन्द होता है। जबकि पत्नी उसको बाहर से आते देखकर पूछ बैठती है - मेरे लिए क्या लाए हो! हाथ में कोई पैकिट है या नहीं? इसी में ही औरत की नजर भटकती रहती है। आज की युवा पीढ़ी तो **हम दो हमारे दो,** तीसरे की अपेक्षा भी नहीं, पालन भी नहीं कर सकते। लड़का सत्तर वर्ष का हो जाए तब भी माँ की दृष्टि में वह छोटा बालक ही रहता है। यही कारण है कि वह कभी किसी कार्य से बाहर जाता है तो माँ कहती है - बेटा! ध्यान से जाना, साधनों का ध्यान रखना आदि। जिस प्रकार छोटे बालक को शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार सत्तर वर्ष के वृद्ध को भी माँ इसी प्रकार की सीख देती है। माँ के वात्सल्य के सामने दुनिया की कोई भी वस्तु नहीं टिक सकती, किन्तु यह शिक्षा आज के युवकों को बेवकूफी भरी लगती है। आज के वृद्धों के श्वासोच्छ्वास में कहीं भी शान्ति नहीं दिखाई पड़ती है। मिया-बीबी केवल दो ही हो तब भी खटपट तो चलती ही रहती है। वह बुढ़िया डोकरी आचार्य महाराज के समक्ष अपनी अन्तर्वेदना को प्रकट करती हुई कहती है - महाराज! यह लड़का कभी भी मुझे माँ कहकर नहीं पुकारता और पोते भी बात-बात में मेरी मजाक उड़ाते हैं। जिस घर में इस प्रकार माँ-बाप तिरस्कृत होते हों उस घर में भगवान् की पधरामणी से क्या लाभ है? आचार्य महाराज बहुत ही गम्भीर और उदार प्रकृति के थे। उन्होंने उस वृद्धा माँ से प्रेम से कहा - माजी! अब आप घर पधारिए, मै अपने ढंग से आपकी वेदना को दूर कर दूँगा। तत्काल ही आचार्य महाराज ने समस्त साधुओं को आज्ञा प्रदान की - चलने की

तैयारी करो, हमें इसी समय विहार करना है। आचार्य की आज्ञा प्राप्त कर शिष्यगण शीघ्रता के साथ अपना काम पूर्ण करने लगे और कमर कस कर विहार के लिए तैयार हो गये। उसी समय किसी मनुष्य के द्वारा सेठ को खबर लगी कि आचार्य महाराज तो विहार कर रहे हैं। सेठ तो एकदम घबरा गया और भागता हुआ महाराज के पास पहुँचा और पूछा - भगवान्! अचानक ऐसी क्या बात हो गई? मेरे द्वारा क्या अपराध हो गया? मेरी प्रतिष्ठा का क्या होगा और मेरी इज्जत का क्या होगा? आचार्यदेव ने कहा - सेठ! **मातृ देवो भव, पितृ देवो भव** इस सूक्ति को तुम मानते हो? माता को घर में देवता के समान इज्जत देते हो? सेठ अत्यन्त समझदार और चतुर था। चतुर को संकेत मात्र काफी होता है। सेठ समझ गया। तत्काल ही आचार्य महाराज के सन्मुख ही माँ के पैरों में पड़कर माफी मांगने लगा। गहन पश्चात्ताप करने लगा। इस माहोल के पश्चात् आचार्य महाराज उस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराते हैं। यदि घर में उचित व्यवहार न हो तो धर्म क्रियाएं भी सफल नहीं होती हैं। बाहर चाहे कितना भी धर्म करते हो किन्तु घर में और परिवार के सदस्यों के साथ कटु सम्बन्ध हो तो वह धर्म दिखावा मात्र है। स्वच्छ और पवित्र जीवन धर्म का मौलिक स्वरूप है। शत्रु भी कह उठे कि मेरे साथ इसका वैर विरोध अवश्य है किन्तु वह सज्जन मनुष्य है। ऐसा दम्भरहित जीवन होना चाहिए। धर्म का सम्यक् प्रकार का आचरण करने से जिस प्रकार श्रेष्ठ फल मिलता है उसी प्रकार अयोग्य रीति से धर्म का आचरण करने पर उसका फल भी कटु ही मिलता है।

Wealth is lost nothing is lost.
Health is lost something is lost.
Charactor is lost everything is lost.

पर्युषणा–प्रथम दिन

भादवा वदि १२

पर्व का स्थान ....

आज महामंगलकारी पर्युषण का पहला दिन है। तुम्हारे यहाँ जब दिवाली आती है तो तुम लोग घर को साफ सुथरा कर रंग–रोगन आदि से दर्शनीय बनाते हो न! उसी प्रकार आज इस महापर्व की पधरामणी हुई है। आज आप सभी लोगों को मन रूपी घर में छाए हुए अनादि काल के रागद्वेष रूपी जालों को साफ करना है। ज्ञानी भगवन्त कहते हैं – पर्व की आराधना तभी सफल होती है जबकि विश्व के समस्त जीवों के साथ हम मैत्री भाव की स्थापना करते हैं। इस पर्व का मुख्य अंग ही क्षमापना है। शास्त्रकारों ने इस दिन को पर्व का रूप दिया है। इस दिन क्षमायाचना करते हुए किसी को आश्चर्य नहीं होता है। जिस प्रकार नववर्ष के प्रारम्भ में सब लोग **यह वर्ष आपके लिए भाग्यशाली हो** इस प्रकार कहकर अभिनन्दन करते हैं। उस दिन ऐसा प्रतीत नहीं होता की यह व्यक्ति आज हमारे यहाँ क्यों आया है? क्योंकि उस पर्व के दिन ही सब लोग वर्ष का अभिनन्दन करते हैं। उसी प्रकार इस क्षमापना पर्व के दिन एक दूसरों को हाथ जोड़ क्षमापना करते हैं, वहाँ जाते हुए न तो लज्जा आती है और न हीनता का भाव आता है।

पर्युषण का शब्दार्थ ....

पर्युषण शब्द वैसे तो अन्तिम दिन के लिए ही प्रयुक्त होता है किन्तु प्रारम्भ के दिन भी उससे सम्बन्धित होने के कारण हम लोग आठ दिन का पर्युषण कहते हैं। पूर्व के समय में साधुगण नवकल्पी विहार करते थे। एक स्थान पर एक महीना रहते थे, इस प्रकार आठ महीनों के आठ स्थानों के आठकल्पों को मासकल्प कहते थे। नौवाँ कल्प पर्युषणा कल्प कहलाता था। परि अर्थात् एक साथ, उषणा अर्थात् निवास। एक

साथ निवास करना ही पर्युषण कल्प कहलाता था। चातुर्मास निकट में आने पर साधुगण पाट-पाटला और निवास योग्य स्थान की खोज करते थे। क्योंकि उस युग में आज के जैसे चकाचौंध करने वाले टाईल्स वाले उपाश्रय नहीं थे। निवास स्थान लेपन युक्त होते थे जिससे जीवाकुल भूमि होने के कारण बारम्बार निरीक्षण करना पड़ता था। जिस गांव में पाट-पाटला आदि सुविधा मिल जाती थी वहीं चातुर्मास निश्चित करते थे। आज के समान विनंती करने के लिए संघ नहीं आते थे। पूर्व के साधुओं का जीवन देखते हैं तो आश्चर्यचकित हो जाते हैं। कैसे संयोगों में और कैसी कठिन जीवनचर्या द्वारा इन महात्माओं ने धर्म को चलाया, सुरक्षित रखा और आज हम तक पहुँचाया।

पर्युषणा कल्प ....

पर्युषणा कल्प आषाढ़ सुदि पूनम से प्रारम्भ होता है। श्रावण वदि १ से वदि ५ तक साधुगण गाँवों में उपयोगी वस्तुओं की खोज करते हैं। यदि पाट-पाटला आदि मिलने की संभावना न हो तो वहाँ से विहार कर जाते हैं। दूसरे गाँव में जाते हैं और वहाँ श्रावण वदि ६ से १० तक शोध करते हैं। यदि वहाँ भी सुविधा नहीं मिली तो साधुगण आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार पाँच-पाँच दिन तक की खोज भादवा सुदि ५ तक करते हैं फिर भी यदि साधुओं के लिए उचित सुविधाजनक स्थान प्राप्त नहीं होता है तो अन्त में झाड़ के नीचे ही चातुर्मास की स्थापना कर देते हैं। विहार / विचरण बंद कर देते हैं। एक तरफ तो अन्तिम पाँच दिन साधुगण गाँव मे शोध करते हैं और दूसरी तरफ कल्पसूत्र का वांचन करते हैं। कल्प अर्थात् आचार। साधुओं के बीच में मुख्य साधु आचारों का वर्णन करता है और समस्त साधु उस वर्णन का ध्यानपूर्वक श्रवण करते हैं। जिससे की उनके ध्यान में आ जाता है कि चौमासे में हमें किस प्रकार का व्यवहार करना है। पाँच दिन तक कल्पसूत्र वांचन की जो परम्परा / रूढ़ी थी वह तो आज भी कायम है। सामान्यतया हमारे यहाँ आठ दिन के ही कार्यक्रम

आयोजित होते रहते हैं। उसी कारण से पाँच दिन तक कल्पसूत्र और अन्य तीन दिन श्रावक के कर्त्तव्यों का वांचन होता है। इन आठ दिवसों की महिमा जैन समाज में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। चाहे जैसे ही संयोग हो फिर भी इन आठ दिवसों की आराधना तो आबालवृद्ध सभी करते हैं।

तीन विभाग . . . .

श्रावक के तीन वर्ग हैं - सदिया, कदिया, भदिया। सर्वदा आराधना करने वाला वर्ग सदिया कहलाता है। किसी तिथी विशेष और पर्व के दिवसों में आराधना करने वाला कदिया कहलाता है। पूर्व समय में तो तिथियों का महत्त्व खूब था। आज तो तारीख और वार का महत्त्व होने से तिथी का महत्त्व गौण हो गया है। आज तो कोई भी कार्य करना हो तो कहेंगे - रविवार को रखिए। अन्य वांरों में तो कोई उपस्थिति नहीं होगी। भादवे महीने में ही उपाश्रय मे आने वाले भदिया कहलाते हैं। चाहे जैसा नास्तिक हो किन्तु सम्वत्सरी का प्रतिक्रमण तो करता ही है। पर्युषण के आठ दिनों में भी महापुरुषों ने ऐसे कर्त्तव्य बतलाए हैं कि उनके द्वारा १२ महीने का पाथेय / नाश्ता बांध ही लेता है।

श्रावक के पाँच कर्त्तव्य हैं:- १. अमारि प्रवर्तन, २. साधर्मिक वात्सल्य, ३. परस्पर क्षमायाचना, ४. अट्ठम तप की आराधना, ५. चैत्य परिपाटी। इन पाँचो कर्त्तव्यों की आराधना नियमित रूप से करनी चाहिए। प्रारम्भ के तीन कर्त्तव्यों की तो प्रतिदिन आराधना करनी चाहिए। अब प्रथम कर्त्तव्य पर विचार करते हैं।

अमारि प्रवर्तन - युगल जोड़ी

सम्पूर्ण गुजरात में १८ देशों में अमारि की प्रवर्तना करवाने वाले पूज्य हेमचन्द्रसूरिजी महाराज तथा कुमारपाल महाराजा हैं। ये आचार्य भगवन् हमको साधर्मिक वात्सल्य में से मिले हैं। धन्धुका में चाचिक नाम का मोढ जाति का वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम पाहिनी था। पाहिनी को किसी रात में स्वप्न आया। स्वप्न में उसने देखा कि मेरे पास

एक रत्न आया है और उस रत्न को मैंने गुरुमहाराज को भेंट कर दिया है। उसी समय में पूज्य देवेन्द्रसूरिजी महाराज भी धन्धुका में विराजमान थे। उस पाहिनी ने गुरु महाराज से स्वप्न का अर्थ पूछा। आचार्य महाराज पूर्ण ज्ञानी थे। उन्होंने पाहिनी देवी को कहा - तुम्हारे उदर में एक महान् रत्न अवतरित होगा। वह रत्न तुम मुझे दे देना। समय गुजरता गया। विक्रम संवत् ११४५ कार्त्तिक पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्र के समान तेजस्वी पुत्ररत्न को पाहिनी ने जन्म दिया। पुत्र का नाम चांग रखा गया। द्वितीया के चन्द्र के समान वह बढ़ने लगा। इस तरफ आचार्य देव भी विहार करते हुए धन्धुका पधारे। आचार्य महाराज मन्दिर में दर्शन हेतु गए थे। वहाँ दर्शन करने के लिए पाहिनी अपने पुत्र चांग के साथ आती है। आचार्य महाराज के खाली आसन पर चांग बैठ जाता है। आचार्य महाराज देखते हैं 'पुत्र के लक्षण पालने में'। देखने के साथ ही यकायक पहला स्वप्न याद आता है। पुत्र का विशाल ललाट और तेजस्वी मुखमुद्रा देखकर आचार्य पाहिनी के पास से पुत्र की याचना करते हैं। पुत्रमोह के कारण पाहिनी पहले तो ना कह देती है। आचार्य उसे खूब समझाते हैं फिर संघ को साथ में लेकर उसके घर जाते हैं तथा पाहिनी को समझाते हैं। पाहिनी विचार करती है - पच्चीसवें तीर्थंकर स्वरूप यह श्रीसंघ मेरे घर आंगन में आया है, अतः उनकी बात / अनुरोध को स्वीकार करना ही चाहिए। ऐसा मन में दृढ़ निश्चय कर और हृदय को कठोर करके अपने पुत्र चांग को गुरु महाराज को समर्पित कर देती है। उस पुत्र को लेकर आचार्य महाराज खंभात आते हैं और वहाँ के उदयन मन्त्री को इसका लालन-पालन करने के लिए सोंप देते है। इस ओर जब पाहिनी ने पुत्र को समर्पित किया था उस समय उसका पिता चाचिक बाहर गया हुआ था। अन्य ग्राम से लौटने पर और अपना पुत्र नहीं देखने पर वह अपनी पत्नी पाहिनी से पूछता है - मेरा लाल कहाँ गया? पाहिनी कहती है - उसको गुरु महाराज ले गए। वह शासन का अनमोल रत्न बनेगा। यह सुनने के साथ ही

चाचिक गुस्से में पागल हो जाता है और उसी समय चलकर खंभात आता है। आचार्य से पुत्र की मांग करता है। आचार्य महाराज उस चाचिक को मन्त्री उदयन के पास भेज देते हैं। मन्त्री चाचिक को हर तरह से समझाते हैं परन्तु चाचिक गुस्से में ताव खाया हुआ था अतः वह अपने हठ पर अडा रहा कि मुझे तो अपने लड़के को घर ले जाना ही है। अन्त में उदयन मन्त्री कहता है – सामने तीन कमरे हैं जो कि हीरा माणक रत्न से भरे हुए हैं, इनमे से जितना भी आपको चाहिए ले जाइए, केवल इतना ही नहीं, मेरे तीन पुत्र हैं उनमें से आप जिसे चाहते हैं चांग के स्थान पर उस पुत्र को ले जाइए। यह सुनने के साथ ही चाचिक को अपने पुत्र की महत्ता समझ में आती है, उसका गुस्सा ठंडा पड़ जाता है और वह मन्त्री को कहता है – मैं अपने पुत्र को बेचने के लिए नहीं आया हूँ। मैं प्रसन्नता के साथ इसको आज्ञा देता हूँ कि वह आचार्य का शिष्य बने। तत्पश्चात् उदयन मन्त्री उस चांग का दीक्षा महोत्सव करते हैं। **प्रबन्धचिन्तामणि** के अनुसार हेमचन्द्रसूरिजी की दीक्षा कर्णावती (अहमदाबाद) में होती है। सिद्धराज जयसिंह के पिता कर्णराज ने कर्णेश्वर महादेव का मन्दिर और कर्णसागर नाम का बड़ा सरोवर बनवाया था इसी कारण वहाँ कर्णावती नाम की नगरी बसी थी। वहाँ हेमचन्द्रसूरिजी महाराज की दीक्षा हुई ऐसा प्रबन्धचिन्तामणि में है। हमें आचार्य भगवन् कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिजी महाराज की भेंट मिली है। इनके ग्रन्थों का वाचन करते हैं तो ऐसा लगता है कि ये आचार्य थे या साक्षात् सरस्वती स्वरूप थे।

ये आचार्य भगवन् एक समय खंभात में विराजमान थे। खंभात में उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपि का काम चल रहा था। ताडपत्रों पर ग्रन्थ लिखवाये जा रहे थे। उस समय कुमारपाल सिद्धराज जयसिंह के भय से भागते फिर रहे थे। भागते हुए वे खंभात में आते हैं और उपाश्रय में आचार्य महाराज के पास जाते हैं आचार्य महाराज उनके लक्षणों को

देखकर विचार करते हैं कि निश्चित रूप से भविष्य में यह राजा होगा और शासन की शोभा-वर्धन के लिए यह अत्यन्त उपयोगी होगा। ऐसा सोचकर कुमारपाल को आश्रय देते हैं। उसी समय सिद्धराज जयसिंह के गुप्तचरों को ऐसी सूचना मिल जाती है कि कुमारपाल उपाश्रय में ही है। तत्काल ही वे गुप्तचर आचार्य महाराज के पास आते हैं। आचार्य महाराज को भी इस बात की गंध लगते ही वे कुमारपाल को उपाश्रय के तलघर में ताडपत्रों के समूह के नीचे छिपा देते हैं। गुप्तचर आकर महाराज को पूछते हैं। समय सूचकता का उपयोग करके आचार्य महाराज एक ताडपत्र के टुकड़े पर 'कुमारपाल तो ताडपत्र में है।' इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य कुमारपाल को बचा लेते हैं और सिद्धराज के महामन्त्री उदयन को सौंप देते है। स्वयं के राजा के द्रोही को घर में रखना कितना कठिन होता है? सिद्धराज को संकेत मिल जाता तो मन्त्री का क्या होता? आप सोच सकते है। ऐसी विकट परिस्थिति में भी आचार्य भगवन् के आदेश से मन्त्री उदयन कुमारपाल की सुरक्षा करता है। इस प्रकार रखड़ते-रखड़ते कुमारपाल महाराजा पचास वर्ष की उम्र में गद्दीनशीन होते हैं। 'एक रखड़ने वाला आदमी राजा बना है' ऐसा समझकर अन्य राजागण अपना सिर ऊँचा करने लगे। उन सबको अपने अधीन करने में कुमारपाल के १६ वर्ष बीत गये। इस व्यस्तता में अपने जीवन के महोपकारी आचार्य महाराज को कुमारपाल भूल गए। आचार्य महाराज पाटण पधारते हैं। उन्होंने मन्त्री से पूछा – क्या कुमारपाल कभी हमें याद करता हैं या नहीं? मन्त्री ने उत्तर दिया - साहेब! वे कभी भी याद नहीं करते हैं। दूसरे दिन आचार्य महाराज ने मन्त्री द्वारा कुमारपाल को कहलाया – आज तुम जिस रानी के महल में सोने के लिए जाने वाले हो वहाँ मत जाना। कुमारपाल ने विचार किया – यह महापुरुष का कथन है इसीलिए इन वाक्यों के भीतर कोई न कोई रहस्य अवश्य होना चाहिए। ऐसा सोचकर कुमारपाल सोने के लिए उस महल में नहीं गया। उसी रात में महल पर बिजली

गिरी। रानी आदि समस्त जलकर खाक हो गये। कुमारपाल ने विचार किया - अहो! इस महापुरुष ने मुझे जीवनदान दिया है। आचार्य की तरफ कुमारपाल का बहुमान भाव जागृत हुआ और वह आचार्य महाराज के दर्शन करने के लिए आया। धीमे-धीमे उन दोनों का परिचय गाढ़ से प्रगाढ़तर बनता गया। आचार्य भगवन् के वचनामृत के पान से उसे पदार्थों की नश्वरशीलता समझ में आई। जो मनुष्य कर्मशूर होते हैं वे ही धर्मशूर होते हैं। सच्चा ज्ञान होने पर वह कुमारपाल नियमों के प्रति ऐसा हठाग्रही बन जाता है कि वह प्राणान्त के समय भी अपने नियमों को नहीं छोड़ता है। आचार्य भगवन् मर्यादा में रहते हुए उसको बारह व्रत अंगीकार करवाते हैं। जो १८ देशों का स्वामी हो उसको व्रत स्वीकार करना कितना कठिन होता है। तुम देश नहीं, ग्राम नहीं, गली-महोल्ला नहीं, केवल अपने घर के राजा हो तब भी क्या एक नियम के व्रत को भी स्वीकार कर सकते हो? अरे! गुटका नहीं खाना यह सामान्य सा नियम भी जो कि तुम्हारे आरोग्य और जीवन के लिए अत्यन्त लाभदायक है। हमारा तो कुछ लेना-देना नहीं, क्या तुम उसको छोड़ने के लिए तैयार हो? महाराजा कुमारपाल जब नन्दी रचना के समक्ष व्रत ग्रहण करने के किए तैयार हुए उस समय में लाखों की उपस्थिति थी। ऐसे महाराजा व्रत ग्रहण करते हैं वह प्रसंग कितना भव्य और शालीन होगा? व्रत ग्रहण के समय महाराजा कुमारपाल विह्वल होकर अनवरत रुदन करने लगते हैं तो लोग पूछते हैं - महाराज! आप क्यों रो रहे हो? उस समय महाराजा ने क्या कहा? उनका उत्तर आप जानना चाहते हो? राजा ने कहा - मेरे जीवन के सत्तर वर्ष पानी में गये। ऐसे सुन्दर व्रत होने पर भी मैं आज तक उन्हें स्वीकार नहीं कर सका। दूसरी ओर मुझे हर्ष के आंसू आते हैं, वे यह सूचित करते हैं कि इस ढलती अवस्था में भी यह अमूल्य चीज मेरे हाथ में आई। हमें किसी दिन रोना आता है क्या? अरे! रोने की बात तो दूर रही किन्तु चित्त में भी कभी पश्चात्ताप होता है? हम तो एक छोटा सा नियम भी लेने के लिए तैयार नहीं होते हैं।

कुमारपाल महाराज ने स्वयं के अट्ठारह देशों में अहिंसा का प्रचार किया। चारों ओर से हिंसा बंद करवाई। इसी बीच में नवरात्रि के दिन आए। राज्य के मन्दिर में सातम के दिन सात सौ, आठम के दिन आठ सौ और नवमी के दिन नौ सौ पशुओं की बली दी जाती थी। मन्दिर राज्य का था और पशु भेंट करने का कार्य कुमारपाल का था। कुमारपाल महाराजा ने स्पष्ट कह दिया - एक भी जीव का भोग / बली नहीं दी जाएगी। राजा के इस आदेश का प्रजा में खूब विरोध हुआ, बवंडर मचा, जनता ने कहा - जो भोग नहीं चढ़ाया गया तो देवी क्रोधित हो जाएगी, उससे प्रजा और राजा दोनों का नाश होगा, किन्तु महाराजा कुमारपाल अडिग रहे। महाराजा ने प्रजा को कहा - माता को भोग नहीं चाहिए किन्तु भोग तो आप लोगों को चाहिए। आज से यह बली बंद की जाती है। रात्रि का समय हुआ। जिस देवी को भोग अर्पित किया जाता था वह कंटकेश्वरी देवी महाराजा के पास आयी और उसने कहा - महाराज! मेरा भोग मुझे चाहिए, नहीं तो तहस-नहस हो जाएगा। तब भी महाराजा अडिग और निश्चल रहे। देवी ने कोपायमान होकर त्रिशूल फेंका और वह कुमारपाल को लगा। उसके कारण कुमारपाल के सारे शरीर में कुष्ठरोग व्याप्त हो गया। देवी अदृश्य हो गई। कुमारपाल विचार करते हैं - प्रातः काल में प्रजा में यह बात फैलेगी तो अहिंसा धर्म पर खूब टीका-टिप्पणी होगी, शासन की अवहेलना / अपकीर्त्ति होगी। इसकी अपेक्षा तो यही श्रेष्ठ होगा कि मैं अपने प्राणों की आहूति दे दूँ। कुमारपाल स्वप्राणों की आहूति देने के लिए तैयार हुए। मन्त्री को बुलाया, मन्त्री ने कहा - पहले आप गुरुमहाराज के पास चलिए, उसके बाद आगे की बात होगी। दोनों ही व्यक्ति रात्रि में ही गुरुमहाराज के पास आते हैं। उपाश्रय में प्रवेश करते समय किसी औरत के रोने की आवाज आती है। कुमारपाल चौंकते हैं, रात्रि में उपाश्रय में स्त्री कहाँ से? आचार्य महाराज से पूछते है। आचार्य

देव उत्तर देते हैं - हे कुमारपाल! तुझे कुष्ठ रोग देने वाली देवी को मैंने बांध दिया है। वह छूटने के लिए छटपटाहट करती हुई रो रही है। तीनों व्यक्ति देवी के पास आते हैं और कहते हैं - हे देवी! तुम प्रतिज्ञा करो कि आज से मैं भोग नहीं लूंगी। साथ ही राज्य में कहीं भी हिंसा होगी तो उसकी सूचना मैं तुमको दूँगी। देवी के स्वीकार करने के बाद उसे बन्धनमुक्त कर दिया जाता है। कुमारपाल महाराजा रोगमुक्त बनते हैं। इस प्रकार अहिंसा में अडिग रहकर अपने राज्य में से **मारि शब्द** को देश निकाला दे दिया। कुमारपाल महाराजा के समय सुवर्ण युग था। आगामी चौवीसी में श्रेणिक महाराज तीर्थंकर बनेंगे और कुमारपाल महाराजा उनके गणधर बनेंगे।

इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल महाराजा के द्वारा चारों ओर अहिंसा का झण्डा लहराया। अहिंसा को शस्त्र बनाकर लड़ने वाले महात्मा गांधी और हेमचन्द्रसूरि जी दोनों मोढवणिक थे। मोढ जाति के लिए यह कहावत है - **अंगे होजो कोढ़ पण पड़ोसमां न होजो मोढ़।** मोढ़ बहुत शक्तिशाली होते हैं। हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने अनेक राजाओं के द्वारा अहिंसा का ध्वज फैलाया और गाँधीजी ने अहिंसा के माध्यम से लड़ाई लड़कर भारत देश को बंधन मुक्त किया।

पूज्य विजयहीरसूरिजी महाराज ....

जब चारों ओर हिंसा का साम्राज्य फैल रहा था, उस समय विजयहीरसूरिजी महाराज हुए। उस समय प्रह्लादनपुर जिसे आज पालनपुर कहते हैं, वहाँ पल्लविया पार्श्वनाथ की खूब महिमा/प्रभाव था। जैनों की आबादी भी बहुत थी। पल्लविया पार्श्वनाथ के मन्दिर में ६४ मण चावल और १६ मण सुपारी चढ़ती थी। ऐसी जाहोजलाली वाले नगर में प्रसिद्ध ओसवाल वंशीय श्रेष्ठिवर्य श्री कुराशाह प्रभावशाली व्यक्ति रहते थे। वे धर्मपरायण थे। उनकी धर्मपत्नी नाथीबाई भी उतनी ही धर्मप्रेमी थी। धर्मपरायण इस परिवार में विक्रम संवत् १५८३ मार्गशीर्ष सुदि नवमी के

दिन एक तेजस्वी पुत्ररत्न का जन्म हुआ था। उनका नाम हीरजी रखा गया था। अधिकांशत: माता-पिता के संस्कारों की छाया बालक में आती ही है। फलस्वरूप हीरजी भी धर्मवृत्ति वाले बने। दुर्भाग्य से छोटी अवस्था में ही हीरजी के माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। हीरजी की तीन बहनें थी। उनका विवाह पाटण में हुआ था। माता-पिता की छत्र-छाया जाने के बाद हीरजी का आधार बहनें बनी। बहन उनको पाटण में ले आई। विक्रम संवत् १५९५ में पाटण की पवित्र धरती पर पूज्य दानसूरिजी महाराज चौमासे के लिए पधारे। हीरजी भी धर्माराधन में लग गये। धीमे-धीमे धर्मरंग का असर होने लगा। आचार्य महाराज के साथ गाढ़ सम्पर्क भी बना। संसार से विरक्त हुए। बहन के समक्ष दीक्षा की अभिलाषा प्रकट की। बहिन ने अपने छोटे भाई हीरजी को अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु हीरजी अपनी भावनाओं में अडिग रहे। अन्त में बहन से अनुमति प्राप्त कर विक्रम संवत् १५९६ कार्त्तिक वदि २ के दिन चतुर्विध संघ के समक्ष उपकारी गुरुदेव पूज्य श्री दानसूरिजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की और हीरजी से हीरहर्षमुनि बने। १३ वर्ष की बाल्यावस्था में ही श्रमण बन गये थे। परमकृपालु गुरुदेव की विशेष कृपा और आशीर्वाद से समस्त शास्त्रों के अभ्यास में प्रवीण बने। देवगिरि में न्याय और तर्कशास्त्र का अभ्यास पूर्ण किया। अभ्यास पूर्ण कर पूज्य गुरुदेव के पास आये। पूज्य गुरुदेव ने संवत् १६०८ में **नाडलाई मारवाड़** में हीरहर्ष को उपाध्याय पद प्रदान किया और विक्रम संवत् १६१० पौष सुदि १० के दिन सिरोही में आचार्यपद से अलंकित किया। उस समय संघ में ऐसा उत्साह जाग्रत हुआ कि पुण्यवान व्यक्ति के पुण्य-प्रभाव से संघ ने एक करोड़ रुपया खर्च किया। इस प्रकार हीरसूरिजी महाराज का उदयकाल प्रारम्भ हुआ। चारों ओर हीरसूरिजी महाराज की कीर्त्ति फैल गई। किसी समय में किसी ने राजा के कान में भरा कि 'यह हीरसूरिजी महाराज बालकों को फंसा कर साधु बना रहा है।' राजा कान के कच्चे होते ही हैं। अत: उन्होंने

आचार्य महाराज पर वारन्ट निकाल दिया। आचार्य महाराज तत्काल ही उसी रात पाटण से निकलकर उबड़-खाबड़ रास्ते पर चल देते हैं। मार्ग में किसी साधु को सांप डँसता है। साधु एकदम चिल्लाकर कहता है - गुरुदेव! सांप ने काट लिया। आचार्य महाराज के पास आकर उनका चरणस्पर्श करता है। उसी समय आचार्य कहते हैं - चलो! खड़े हो जाओ! चलना प्रारम्भ करो। आचार्य के स्पर्श मात्र से सर्प का जहर उतर जाता है। ऐसे प्रखर त्यागी और तपस्वी थे। खड़े-खड़े प्रतिदिन ५०० लोगस्स का काउसग्ग करते थे।

गुरुभक्ति ....

एक समय चौमासे के लिए गांधार की ओर विहार कर रहे थे। गांधार के श्रावकों को सूचना मिली। खबर देने वाले मनुष्य की ओर सेठ ने चाबी का गुच्छा फेंका और कहा - इन चाबियों में से जो तुझे अच्छी लगे वह ले ले। वह जिस कमरे की चाबी होगी और उस कमरे में जो कुछ होगा वह तेरा होगा। खबरनवीस ने बड़ी चाबी ली और गोदाम खोला तो वह गोदाम रस्सियों का निकला। वह रस्सियाँ भी लाखों की कीमत की थी। गांधार के ऐसे भक्त और उदार श्रावक थे। आचार्य भगवन् गांधार में संघ को आराधना करवा रहे थे।

इस तरफ दिल्ली के सिंहासन पर अकबर बादशाह का राज्य था। वह बहुत ही क्रूर एवं हिंसक था। उसको खाने में प्रतिदिन ५०० चिड़ियाओं के जीभ की चटनी लगती थी। वह भयंकर क्रूर परिणामी और खूनी था। ऐसे अकबर को ढलती उम्र में धर्म सुनने की जिज्ञासा जाग्रत हुई। वह अपनी राजसभा में प्रतिदिन नये-नये गुरुओं को बुलाता और धर्म-श्रवण करता। एक दिन वह राजसभा में बैठा हुआ है।

चम्पा श्राविका ....

इस ओर चम्पा नाम की श्राविका ने छः महीने का उपवास किया था। ऐसी आदर्श तपस्वी का आदर-सत्कार करने के लिए आगरा का

संघ उत्साह से भाग ले रहा था। चम्पाबाई को वस्त्राभूषणों से विभूषित कर, पालकी में बिठाकर, बाजों की ध्वनि के साथ बड़े ठाट-बाट से हजारों की संख्या में जैन जनता पीछे चल रही थी, मन्दिर की ओर दर्शनार्थ ले जा रहे थे। बाजों की मधुर ध्वनि और जनता का कोलाहल राजसभा में बैठे हुए अकबर के कानों में पड़ा। अकबर ने अपने सेवक को आज्ञा दी - अरे! जाकर देखकर आओ, यह तुमुल कोलाहल किस कारण से हो रहा है? सेवक भागकर गया और खोज करके वापस आया। उसने कहा - सम्राट! चम्पा नाम की बाई ने छः महीने के उपवास किये हैं। उसके बहुमान में यह जुलूस निकल रहा है। जैनों का उपवास अर्थात् दिन में अमुक समय ही गर्म पानी पीने का होता है। रात को वह भी बन्द हो जाता है। अरे! मुसलमानों में रोजे आते हैं तो उसमें दिन को नहीं खाते हैं, किन्तु रात को तो पेट भरकर खाते हैं। एक महीने का रोजा तो जैसे-तैसे कर लिया जाता है, किन्तु यह औरत छः महीने तक बिना अन्न के कैसे रह सकती है? बादशाह ने ऐसा सोचकर परीक्षा के लिए चम्पा को शाहीमहल में रखा। उसके चारों ओर अपने सेवकों को पहरे पर लगा दिया। चम्पा की तप-उपासना असाधरण थी। वह दिवस को सोती नहीं थी। धर्माराधना ही करती थी। रात को कुछ समय के लिए विश्राम करती थी ताकि तनिक भी थकावट या धर्म-कार्यों में रुकावट न आए। चम्पा के चेहरे पर आंतरिक तेज के दर्शन होते थे। दादा आदिनाथ और हीरसूरीश्वरजी महाराज के नाम का जाप चालू था। एक समय अकबर स्वयं चम्पा की दिनचर्या देखने के लिए आया। चम्पा के मुख पर तप का तेज चमक रहा था। बादशाह की जो कल्पना थी उसके विपरीत ही यहाँ दर्शन हो रहे थे। आह या चीख को कहीं स्थान नहीं था। चम्पा की कलि के समान चम्पा श्राविका का मुखकमल खिल रहा था। बादशाह चम्पा से पूछता है - यह तपस्या तुम किसके आधार से कर रही हो? चम्पा ने उत्तर दिया - देव और गुरु की कृपा से कर रही हूँ। अकबर ने पुनः पूछा -

बहन! तुम्हारा देव और गुरु कौन है? चम्पा ने उत्तर दिया, शत्रुंजय के शिखरों को शोभित करने वाले आदिनाथ दादा मेरे देव है और भारत की भूमि को शोभा प्रदान करने वाले पूज्य आचार्य महाराज हीरसूरीश्वरजी मेरे गुरु है। अकबर सोचता है - ओह! हीरसूरि का नाम तो मैंने अनेकों बार सुना है। इस ओलिया पुरुष के तो मुझे दर्शन करने ही चाहिए। पुनः अकबर चम्पा से पूछता है - हीरसूरिजी अभी कहाँ विराजमान हैं? चम्पा कहती है - राजन्! अभी वे गंधार में विराजमान हैं। अकबर ने तत्काल ही अहमदाबाद के सूबेदार को पत्र लिखवाया कि विजयहीरसूरिजी को शाही सम्मान के साथ फतेहपुर भेजो। अहमदाबाद के सूबेदार के हाथ में पत्र आने के साथ ही उसकी हालत बिगड़ गई। अमंगल की आशंका से वह भयभीत हो गया। अहमदाबाद के संघ के अग्रगण्यों को बुलाकर पत्र दिया। अहमदाबाद के प्रमुख लोग गंधार पहुँचे। साधुओं की शिष्ट मण्डली में पत्र पढ़ा गया। सभी साधु एक स्वर में बोल उठे - ऐसे क्रूर और घातकी बादशाह का विश्वास कैसे किया जाए? बादशाह कोई अयोग्य एवं अनुचित कार्य कर दे तो? संघ और समुदाय की इच्छा थी कि आचार्य भगवन् सम्राट के पास नहीं जावें, किन्तु अन्तिम निर्णय हीरसूरिजी महाराज के अधिकार में ही रखा। हीरसूरिजी महाराज ने कहा - लाखों को प्रतिबोध देने पर भी जो लाभ नहीं मिलता है, वह एक सम्राट को सद्बोध देने पर प्राप्त हो जाता है। कदाचित् मेरे निमित्त कारण से जैन शासन की प्रभावना होती हो तो यह अवसर गँवाना नहीं चाहिए।

गंधार से दिल्ली की ओर विहार ....

गुरुवर्य की दृढ़ता देखकर सभी ने मूक सम्मति दे दी। विक्रम संवत् १६३९ मार्गशीर्ष वदि ७ को गंधार से विहार किया। विद्वान् साधुओं का विशाल परिवार साथ में था। गाँव-गाँव में जैन धर्म के झण्डे को लहराते हुए हीरसूरिजी अहमदाबाद आए। शाही सम्मान से उनका नगर प्रवेश हुआ। एकान्त में अहमदाबाद के सूबेदार ने सूरिजी से विनम्र

अनुरोध किया - सूरिजी! आप मेरे अपराधों को भूल जाओ और मुझे क्षमा दान दो। मैंने पहले आपको बहुत परेशान किया था। बादशाह के आगे मेरी कोई शिकायत मत करना। मैं आपसे बारम्बार क्षमा मांगता हूँ। सूबेदार सियाबखान की बात सुनकर सूरिजी बोले - आप चिन्ता नहीं करें। हमें तो छोटी-छोटी बातों को याद करने का अवकाश ही कहाँ है? समस्त जीवों के प्रति हमारा प्रेमपूर्ण क्षमा भाव ही होता है। सूरिजी के वचनों से सियाबखान बहुत प्रसन्न हुआ। शाही फरमान के अनुसार हाथी, घोड़ा, पालकी आदि सामग्री उनके समक्ष प्रस्तुत की गई। सूरिजी ने उक्त सामग्री को अस्वीकार किया और कहा - हम तो अपरिग्रही हैं। इन परिग्रहों की हमें आवश्यकता नहीं है। सूरिजी के आदेशानुसार कई विद्वान् साधु पहले ही फतेहपुर सीकरी पहुँच गये। साधुओं ने गुप्त रूप से जानकारी प्राप्त कर आचार्य महाराज को सूचित किया - बादशाह की आपके प्रति पूर्ण भक्ति है। कुत्सित विचारों की गन्ध भी प्राप्त नहीं होती है अत: शीघ्र ही पधारने का निवेदन किया।

दिल्ली में प्रवेशोत्सव और सम्राट से मिलन ....

संघ के व्यक्तियों ने सूरीश्वरजी के आगमन के समाचार बादशाह को दिए। बादशाह ने अबुलफजुल को (सामैय्या) स्वागतोत्सव का कार्य सौंपा। सूरिजी राजा के महल में पधारे। अकबर सन्मुख आया। सूरिजी के प्रभावशाली मुखमुद्रा को देखते ही प्रभावित हो गया। राजमहल में पधरामणी कराता है। राजमहल में चारों ओर कारपेट बिछा हुआ है। सूरिजी कहते हैं - हम इसके ऊपर नहीं चल सकते। इसके नीचे यदि कोई जीव होगा तो वह मर जाएगा। बादशाह मन ही मन हँसा। प्रतिदिन जहाँ साफ-सफाई होती हो वहाँ जीव कैसे हो सकता है? किन्तु सूरिजी के कहने से कारपेट उठाया जाता है, उसके नीचे देखते हैं तो हजारों कीड़ियाँ घूमती हुई दिखाई देती है। यह दृश्य देखकर बादशाह आश्चर्यचकित हो जाता है। अरे! यह तो कोई महाओलिया दिखाई देता है। कारपेट के नीचे

रही हुई कीड़ियों को भी इसने देख लिया। बादशाह के दिमाग में पहली मुलाकात में महाज्ञानी पुरुष के रूप में छाप पड़ गई। धीमे-धीमे प्रगाढ़ परिचय बनता गया। आचार्य की नई-नई बातों से बादशाह प्रसन्न हुआ। प्रत्येक मिलन के समय आचार्य महाराज से कुछ माँगने का निवेदन करता रहा। आचार्य महाराज ने कहा - मुझे तो किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। '**पण खेर करो ने महेर करो**' अर्थात् दुनिया पर दया करो और निरपराधी जीवों पर कृपा करो।

बादशाह इतना प्रभावित हो गया कि हीरसूरिजी महाराज जो कुछ भी कहते वह करने के लिए तैयार रहता। चौमासा आगरा में था। पर्युषण पर्व दिनों के आने पर श्रावकों ने बादशाह को जाकर निवेदन किया - आचार्य हीरसूरिजी ने आपको कहलाया है कि पर्युषण के आठ दिन हिंसा बंद रहे तो बहुत अच्छा है। यह सुनकर बादशाह ने कहा - गुरुदेव ने मेरे ऊपर कृपा-वर्षा की है। गंधार जैसे दूर प्रदेश से आने पर भी और मेरे निवेदन करने पर भी उन्होंने कभी याचना नहीं की। आज याचना की है तो वह भी प्राणियों के हित को दृष्टि में रखकर। आगे पीछे के दो-दो दिन और जोड़कर आज्ञापत्र निकाला कि 'बारह दिन पर्यन्त कोई भी हिंसा नहीं करेगा। जो हिंसा करेगा उसको कठोर से कठोर दण्ड दिया जाएगा।' इस प्रकार का फरमान भी निकाल दिया। धीमे-धीमे सूरिजी ने बादशाह के पास से छः-छः महीने के फरमान प्रसारित करवा दिये। छः महीने तक सारे हिन्दुस्तान में हिंसा बंद करवा दी। डाबर सरोवर जिसका घेराव १० किलोमीटर था। वैसे तो वह जंगल था, किन्तु सरोवर के नाम से पहचाना जाता था। बादशाह शिकार का बहुत शौकीन था। इस जंगल में उसने हजारों प्राणियों को बन्दी बना रखा था। जिस दिन शिकार करने की इच्छा होती उस दिन वहाँ जाकर अनेक प्राणियों का व्यर्थ में वध करता और आनन्द मनाता था। प्रसन्न हुए बादशाह के पास से सूरिजी ने डाबर सरोवर के जीव-जन्तुओं को जीवितदान दिलाया। बादशाह सम्पूर्ण रूप से अहिंसा का उपासक बन गया।

सेन को सवाई पदवी ....

बहुत समय व्यतीत होने पर गुजरात के श्रावकों ने सूरिजी से विनंती की - भगवन् आपके बिना गुजरात प्रदेश सूना पड़ा है। अब आप इस तरफ पधारिए। सूरिजी ने बादशाह के पास से जाने की अनुमति मांगी। बादशाह ने कहा - आपके बिना मुझे धर्म कौन सुनाएगा? आप पधारते हैं तो पधारिए, किन्तु योग्य शिष्य को छोड़ते जाइए। बादशाह के आग्रह से सूरिजी ने विजयसेनसूरिजी को वहाँ रखकर गुजरात की ओर विहार किया। **बाप की अपेक्षा बेटा सवाया होता है।** उसी प्रकार सूरिजी की अपेक्षा भी विजयसेनसूरिजी सवाये निकले। बादशाह ने उनको **सेन सवाई** पदवी दी।

ऊना में अन्तिम समय ....

सूरिजी गुजरात की तरफ विहार करते हुए पहले दादा की यात्रा के निमित्त सिद्धगिरि पहुँचे। अनेक संघों के साथ दादा की यात्रा भावपूर्वक सम्पन्न करके सूरिजी ने चौमासे के लिए ऊना की ओर प्रयाण किया। विक्रम संवत् १६५१ का चातुर्मास सूरिजी ने ऊना में ही किया। चातुर्मास पूर्ण हुआ और विहार के समय सूरिजी का शरीर रोगों से व्याप्त हो गया। विहार रुक गया। शरीर अधिक अस्वस्थ बन गया। उस समय उनके पाट के अधिकारी विजयसेनसूरिजी महाराज अकबर बादशाह के पास लाहौर में थे। सूरिजी को गच्छ-सुरक्षा की घोषणा करनी थी। अतः उन्होंने शिष्यों से कहा - विजयसेनसूरि शीघ्रातिशीघ्र यहाँ आवें ऐसा प्रयत्न करो। लाहौर समाचार पहुँचे। चातुर्मास में ही विजयसेनसूरि ने शीघ्र विहार प्रारम्भ किया। गुरुदेव से मिलने की किसको उत्कण्ठा नहीं होगी? लम्बे से लम्बे विहार करते रहे, किन्तु इधर सूरिजी की शारीरिक स्थिति गम्भीर से गम्भीर बनती गई। पर्युषण के दिन आये। शारीरिक दशा शोचनीय होने पर भी उन्होंने कल्पसूत्र का व्याख्यान दिया। व्याख्यान के परिश्रम से उनका शरीर अत्यधिक शिथिल हो गया। भादवा सुदि १० के दिन समस्त

शिष्यों को हित-शिक्षा दी, सबको खमाया और ध्यान में बैठ गये। विक्रम संवत् १६५२ भादवा सुदि ११ के दिन संध्या समय में पद्मासन में बैठकर माला फेर रहे थे। चार माला पूर्ण हो गई, पाँचवी माला फेर रहे थे कि वह माला तत्काल ही उनके हाथ से गिर गई। जनता में हाहाकार मच गया। जगत् का हीरा चला गया। भारतवर्ष में गुरु-विरह का भयंकर बवंडर छा गया। सूरिजी के निर्वाण से सर्वत्र हाहाकार मच गया। ऊना के संघ ने अन्य संघो को यह दुःखदायक समाचार पहुँचाने के लिए शीघ्रवाही अश्वों/पोठियों को रवाना किया। उस समय चिट्ठी एवं तार के साधन नहीं थे। ज्यों-ज्यों और जहाँ-जहाँ समाचार मिलते गये वहाँ के संघ देववंदन करने लगे। गाँव-गाँव में शोकसभाएं होने लगी। सब जगह शोक के बादल छा गये। इस तरफ सूरिजी की अन्तिम क्रिया के लिए ऊना और दीव संघ तैयारी करने लगा। तेरह खंडवाली माण्डवी तैयार की गई और उसमे सूरिजी के पार्थिवदेव को विराजमान किया गया। गांव के बाहर आम्बाबाड़ी में चन्दन की चिता तैयार की गई। सूरिजी के नश्वर देह को उस पर रखा गया। आग प्रज्वलित करने की किसी में हिम्मत नहीं थी। अन्त में हृदय को कठोर बनाकर हाहाकार वेदना के स्वरों के साथ व्यथित मन से इस चिता में १५ मण चन्दन, ३ मण अगर, ३ सेर कपूर और ३ सेर केसर आदि डाले गये। सूरिजी का नश्वर देह विलीन हो गया। उस समय वहाँ रहे हुए आम के वृक्ष अकाल में ही केरियों के झुंड से झुक गये। जो आम वृक्ष बांझ थे उन पर भी केरियाँ आ गई। सूरिजी के अग्नि संस्कार का वह स्थान अकबर बादशाह ने जैन संघ को भेंट कर दिया। आज भी वह आम्बावाड़ी शाहबाग के नाम से प्रसिद्ध है।

इधर गुरु से मिलने की अत्युत्कण्ठा होने के कारण विजयसेनसूरिजी महाराज लाहौर से उग्र से उग्र विहार करते रहे। विहार में सूरिजी के स्वास्थ्य के समाचार नहीं मिले। पाटण आए। उपाश्रय में पग धरते ही समस्त श्रावकों को देववंदन करने के लिए एकत्रित देखकर

विजयसेनसूरिजी का हृदय बैठ गया, अपशकुन हुए, अवरुद्ध कण्ठ से संघ के अग्रगण्यों से पूछा - गुरुदेव का स्वास्थ्य कैसा है। उत्तर मिला - गुरुदेव तो हमको छोड़कर चले गए। इन शब्दों को सुनने के साथ ही उनके हृदय पर ऐसा प्रबल आघात लगा कि विजयसेनसूरिजी बेभान होकर जमीन पर गिर पड़े। तीन दिन तक संज्ञाहीन रहे, अन्त में संज्ञा/चेतना में आने पर श्रावकों ने उन्हें समझाया, फिर भी **गुरुदेव से मिलन नहीं हुआ इसका दुःख प्रकट करते हुए उनकी आँखों से आँसू झरते ही रहे, सूखे नहीं**। तत्पश्चात् वे मुनियों के साथ ऊना आए और गुरुदेव की पादुका की भावपूर्वक वंदना की। अकबर बादशाह को भी सूरिजी के कालधर्म के समाचार भिजवाए गए। बादशाह भी रो पड़ा। ऐसे हिंसक बादशाह को अहिंसक बनाने वाले जगद्गुरु को हमारी भावभरी वंदना।

जो सम्पत्ति अन्याय या अनीति से आती है वह सम्पत्ति आसुरी कहलाती है और न्याय से उपार्जित सम्पत्ति दैवी (अलौकिक) कहलाती है। आसुरी सम्पत्ति अशांति, व्याधि और क्लेश को साथ में लाती है जबकि दैवी सम्पत्ति शांति, आनंद और संप (मेल/ऐक्य) आदि को प्रदान करती है।

पर्युषणा - द्वितीय दिन

भादवा वदि १३

साधर्मिक वात्सल्य . . . .

पूज्य ज्ञानी भगवन्तों ने पर्युषण पर्व को सर्वोत्तम पर्व बतलाया है। इस पर्व की आराधना के लिए गुरु भगवन्तों ने पाँच उपाय बतलाए हैं। अमारि प्रवर्तन आदि। दूसरा उपाय है साधर्मिक वात्सल्य। साधर्मिक वात्सल्य अर्थात् स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति स्नेहभाव। एक ओर समस्त धर्म और दूसरी ओर साधर्मिक वात्सल्य। दोनों को बुद्धि रूपी तराजू में तोला जाए तो दोनों का वजन समान होता है। हमें जो कुछ भी धर्म प्राप्त हुआ है, वह साधर्मिक का ही प्रताप है। हम इस समय जिस किसी प्रकार की भी आराधना कर रहे हैं, वह किसके आभार से? ये मन्दिर, उपाश्रय और संस्थाओं आदि का निर्माण किसने करवाया है और किसलिए करवाया है? साधर्मिकों की साधना के लिए ही न? जो ये साधर्मिक नहीं होते तो आज न तुम होते और न हम होते। पांजरापोल आदि जो संस्थाएं चल रही हैं वे भी साधर्मिकों के बल पर। आज तुम्हारे यहाँ किसी भी संघ के अधिकारी टीप/चन्दे के लिए आते हैं और उसमें लाखों रुपये लिखवाते हैं वे किस कारण से? साधर्मिक सम्बन्ध पर ही लिखवाते हैं न? तुम जो साधर्मिकों के बीच में रहते हो तो पर्व दिवसों में धर्म करने के लिए प्रेरित होते हो। एक दूसरे को खेंच कर लाते हैं। हमने साधर्मिक शब्द का अर्थ बहुत छोटा कर दिया है। 'सब लोग मिलकर एक साथ भोजन करें यही साधर्मिक वात्सल्य हो गया है।' इसका अर्थ तो बहुत विशाल है। साधर्मिक-साधर्मिक के साथ कभी छल-प्रपंच नहीं करता है, फंसाता नहीं है, शीशे में नहीं उतारता है। साधर्मिक दुःखी होता है तो उसकी समस्त प्रकार से सहायता करनी चाहिए, क्योंकि साधर्मिक है तो धर्म है।

साधर्मिक वात्सल्य का प्रारम्भ भरत चक्रवर्ती से हुआ। भरत चक्रवर्ती को ऐसा लगा कि मेरे समस्त भाई संसार पार कर गये हैं और मै अकेला रह गया हूँ। इसीलिए उसने सर्वदा धर्म की जाग्रति रहे एतदर्थ उसने एक वर्ग खड़ा किया। उसने उस वर्ग के मानवों से कहा - तुम्हें प्रतिदिन राज सभा में आकर मुझे प्रतिदिन यह कहना है - **मा हण, मा हण, जितो भवान् वर्धते भीः**, अर्थात् किसी को मारें नहीं, मारे नहीं। कषाय द्वारा तुम पराजित हो गये हो, पराजित हो गये हो। भय बढ़ रहा है। इस प्रकार तुम्हें प्रतिदिन सुनाना होगा। मेरे भोजनालय में ही तुम्हें भोजन करना होगा। मेरे यहीं तुम्हें निवास करना है। राज्य की ओर से तुम्हें समस्त प्रकार की सुविधाएं प्राप्त होंगी। इस वर्ग के मनुष्यों की पहचान के लिए भरत महाराज ने काकिणी रत्न से उनके शरीर पर तीन रेखाएं अंकित करवाई। ये रेखाएं ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रतीक रूप थीं। कालक्रम से काकिणी रत्न चला गया, उसके बाद सोने के तीन तार रखने लगे। धीमे-धीमे यह भी विलीन हो गया और यह वर्ग ब्राह्मण के रूप में पहचाना जाने लगा। जो आज जनोई / यज्ञोपवीत पहनते हैं उसका प्रारम्भ भरत चक्रवर्ती से ही हुआ था। इस प्रकार साधर्मिक वात्सल्य का प्रारम्भ हुआ।

मोटा वस्त्र ....

पूज्य हेमचन्द्रसूरिजी महाराज ने कुमारपाल के द्वारा साधर्मिक वात्सल्य करवाया था। एक समय सूरिजी शाकम्भरी (सांभर) नगरी में पधारे। वहाँ कोई सामान्य / गरीब श्रावक रहता था। उसने अपने हाथों से एक मोटे कपड़े की धोती / अधोवस्त्र तैयार किया था। सूरिजी पधारे हैं इसीलिए उसने विचार किया - ऐसा उत्तम पात्र मुझे कहा मिलेगा? क्यों न इस महात्मा की भक्ति करूँ? इसीलिए उसने वह अधोवस्त्र आचार्य महाराज को समर्पण कर दिया। सूरिजी ने उस समय उस वस्त्र को अपने वस्त्रों के साथ बांधकर रख दिया। आचार्य महाराज विहार करते हुए

पाटण पधारते हैं। महाराजा कुमारपाल स्वागत की तैयारी करते हैं। समय देखकर आचार्य महाराज ने वह मोटा वस्त्र निकाला और धारण कर लिया। उसी समय महाराजा कुमारपाल आ गए। आचार्यश्री के शरीर पर मोटे कपड़े का वस्त्र देखकर राजा ने कहा - आपने ऐसा मोटा वस्त्र क्यों धारण किया है? मेरे जैसा अट्ठारह देश का स्वामी और उसके गुरु ऐसे कपड़े पहनें? मेरा तो लज्जा से ही सिर झुक जाता है। आप कृपा करके अन्य वस्त्र धारण करें। आचार्य महाराज उत्तर देते हैं - हम तो साधु हैं, हमे तो जो मिलता है उसी में संतोष करते हैं। राजन्! इस कपड़े से नहीं बल्कि लज्जा तुम्हें अपने आप से आनी चाहिए, क्योंकि तुम एक विशाल राज्य के अधिपति हो और तुम्हारे राज्य में साधर्मिक की ऐसी करुणाजनक स्थिति? यह सुनते ही कुमारपाल ने उसी समय आदेश दिया - कोई भी साधर्मिक दु:खी हो और यहाँ आए तो उसे मुझे बिना पूछे ही एक हजार स्वर्ण मोहर दे दी जाए। इस प्रकार महाराजा कुमारपाल ने चौदहसौ करोड़ सोने की मोहरें साधर्मिक भक्ति में खर्च की। साधर्मिक को भी यह अभिमान होना चाहिए कि मुझे सम्भालने वाला सारा संघ है। धर्म के प्रति उसके हृदय में बहुमान जगना चाहिए। हमारे साधर्मिक वात्सल्य अभी धर्मस्थानों तक ही हैं, उसे जीवस्थानक तक पहुँचाना है। मुझे साधर्मिकों को मेरे समान बनाना है। सहायक रूप बनाना है। सहायता लेने वाले को भी यह समझना चाहिए कि संघ के व्यक्ति मेरी नि:स्वार्थ भाव से मदद कर रहे हैं। उनकी ओर मेरा व्यवहार भी नम्रता से परिपूर्ण होना चाहिए। आज भाई-भाई के बीच में और पिता-पुत्र के बीच में मेल-मिलाप नहीं है। एक दूसरे को फंसाने के लिए परिश्रम कर रहे हैं। यह सब देखकर और सुनकर ऐसा लगता है कि धर्म करने वालों का यह कैसा धर्म है?

उदो मारवाड़ी . . . .

कलिकाल सर्वज्ञ के समर्पित भक्त उदयन मन्त्री साधर्मिक भक्ति में से ही आए हैं। पहले यह उदा मारवाड़ी था। एक पैसा भी उसकी अंटी

मे नहीं था। उस समय गुजरात में कर्णावती नगरी की प्रसिद्धि चारों ओर थी। इस नगरी का दूसरा नाम आशाभील के द्वारा निर्मित होने के कारण आशापुरी भी था और आज यह अहमदाबाद कहलाता है। उदा ने कर्णावती की बहुत प्रसिद्धि सुनी थी। उसने सोचा कि यदि मै ऐसे बड़े शहर में चला जाऊं तो मुझे रोटी तो अवश्य ही प्राप्त हो जाएगी। यह सोचकर वह लोटा-डोरी लेकर कर्णावती नगरी की ओर चला। वह उस नगरी में पहुँचा तो अवश्य, किन्तु इस विशाल नगरी में किसके यहाँ जाऊं, यहाँ कोई जान-पहचान नहीं है। उसने विचार किया - चलो, दादा के मन्दिर जाऊं। थके हुए व्यक्ति का यही विश्राम स्थल होता है। मन्दिर आया, संसार के दु:ख को भूलकर उसने प्रभु की भक्ति की। उस समय एक लाछी नाम की छीपी भावसार जाति की श्राविका दर्शन करने के लिए आई थी। उसने इस अज्ञात आगन्तुक को देखा, दर्शन करके वह बाहर निकली। उदा भी दर्शन करके बाहर चबूतरे पर बैठा था। लाछीबाई ने पूछा - भाई! कहाँ के निवासी हो? कहाँ उतरे हो? किसके मेहमान हो? उदा ने उत्तर दिया - व्यापार-धन्धा करने के लिए आया हूँ और आपका मेहमान हूँ। वह लाछी बाई साधर्मिक भक्ति के लाभ और महत्त्व को जानती थी। इसीलिए उदा को अपने घर ले गई। भोजन करवाया, केवल यही नहीं साधर्मिक होने के कारण सब सामग्री से युक्त घर भी रहने के लिए प्रदान किया। धीमे-धीमे फेरी लगाते हुए उदा का भाग्य जाग उठा। उसने घर को सुधारने के लिए खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया। खुदाई के समय धन का कलश निकला। उस कलश को लेकर वह लाछी छीपी के यहाँ गया। उदा ने निवेदन किया - यह कलश आप ग्रहण कर लें। लाछी छीपी अस्वीकार करती है और कहती है - इतने वर्षों से यह घर मेरे अधिकार में ही था किन्तु गड़ा हुआ धन कभी नहीं निकला। आज एक मकान तुम्हारे अधिकार में है तब यह निधान निकला है। इसीलिए यह धन भी तुम्हारा है। दोनों के बीच में इस प्रश्न को लेकर वाद-विवाद होता

है, अन्त में लाछी छीपी उसे नहीं लेती है। कैसे थे उस युग के मानवी? धन देने और ग्रहण करने के लिए कहासुनी होती थी, जबकि आज धन के लिए सगा पुत्र भी बाप का खून करते हुए आगे-पीछे नहीं सोचता है। उदा बहुत बुद्धिशाली और चतुर व्यक्ति था। धन प्राप्त होने से उसका व्यापार बढ़ा। न्याय, नीतिपूर्वक व्यापार करने के कारण उसकी कीर्ति राजा तक पहुँची और एक दिन वह सिद्धराज जयसिंह का मन्त्री बना। सिद्धराज विशेषण था और जयसिंह उसका नाम था। अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त करने के कारण वह सिद्धराज बना। खम्भात जिले के मन्त्री के रूप में नियुक्ति उदयन की हुई। उसके जिलाधीश रहते हुए हेमचन्द्रसूरिजी महाराज की दीक्षा हुई। इस प्रकार लाछी छीपी की साधर्मिक भक्ति में से उदयन मन्त्री मिले और उदयन मन्त्री के द्वारा आचार्य भगवन् मिले। (विशेष जाने - इसी पुस्तक के पर्युषणा-प्रथम दिन में अमारि प्रवर्तन-युगल जोड़ी से) अरे! कलिकाल में भी जिनकी छत्र-छाया में सत्युग चल रहा था। यह देवाधिदेव आदिनाथ का मन्दिर भी उदयन मन्त्री के पुत्र वाग्भट्ट (बाहड़) ने बनवाया था।

शत्रुंजय का १४वाँ उद्धार ....

उदयन मन्त्री सणोसरा के ठाकुर को अधीन करने के लिए सेना लेकर निकले। मार्ग में शत्रुंजय आने पर उन्होंने विचार किया - दादा के दर्शन करके युद्ध करने के लिए जाऊं। इस कारण वे शत्रुंजय आए गिरिराज पर चढ़े। द्रव्यपूजा आदि कर भावपूजा कर रहे थे, उसी समय उनकी दृष्टि जलते हुए दीपक को खेंचकर ले जाते हुए चूहे पर पड़ी। उस समय दादा का मन्दिर लकड़ी का बना हुआ था। यह ध्यान में आते ही वे चौंके। अरे, इस दृश्य पर यदि मेरी दृष्टि नहीं पड़ी होती तो सारा मन्दिर जल जाता। दादा का क्या होता? मेरे साधर्मिक बन्धु दर्शन के बिना कैसे तिरेंगे? इस प्रकार आगामी भय को ध्यान में रखकर उन्होंने मन में संकल्प किया - यह मन्दिर मुझे पत्थर का बनवाना है। संकल्प करने के बाद उदयन मन्त्री युद्ध क्षेत्र में

आए। सणोसरा के ठाकुर बहुत बलवान थे और उनके पास सेना भी बहुत थी। ठाकुर को हराते-हराते मन्त्रीश्वर उदयन के शरीर पर भी गम्भीर चोटें आई। सारा शरीर छननी जैसा बन गया। ठाकुर पर विजय तो अवश्य प्राप्त की किन्तु स्वयं के जीवन की आशा विलीन हो गई। मरणशय्या पर पड़े हुए मन्त्रीश्वर ने धर्म सुनने की इच्छा प्रकट की। वहाँ युद्ध के क्षेत्र में साधु कहाँ से लावें? जैसे-तैसे भाट-चारण को नवकार मन्त्रादि सीखाकर तैयार किया गया। साधु का वेश पहनाया और उदयन मन्त्री के बिस्तर के पास लाए। साधु को देखते ही मन्त्रीश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सिद्धराज जैसे का दांया हाथ, विशाल साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी जिसके रोम-रोम में जिनशासन बसा हुआ है वह अन्त समय में सम्पत्ति, पुत्र, परिवार आदि को याद नहीं करता है, याद करता है तो केवल धर्म को। साधु को देखते ही स्वतः ही उसके हाथ जुड़ गये। मंगलिक सुनी, न्यौछावर की, मन में किसी अपूर्ण इच्छा के रहने के कारण प्राण अटके हुए थे। समस्त लोगों ने इकट्ठे होकर मन्त्रीश्वर से पूछा- आपकी आखिरी इच्छा क्या है? मन्त्रीश्वर ने कहा - हाँ, मेरी एक इच्छा अधूरी रह गई। शत्रुंजय का उद्धार और भरोंच के मन्दिर का जीर्णोद्धार नहीं करवा सका। वहाँ उपस्थित साथियों / अनुचरों ने कहा - मन्त्रीश्वर! आप तनिक भी चिन्ता न करें। आपकी इच्छाओं को आपके पुत्र अवश्य पूर्ण करेंगे। बस, इतना सुनते ही मन्त्रीश्वर के प्राण-पखेरु नश्वर देह को छोड़कर चले गये। यह दृश्य देखकर साधुवेशधारी भाट ने सोचा - अहो! इस वेश की इतनी महत्ता है, उदयन जैसा महामन्त्रीश्वर मेरे पैरों में गिरा है, बस अब मैं इस वेश को नहीं उतारूगाँ। उसका वेश पर बहुमान जाग्रत हुआ। उसने भावतः सच्ची दीक्षा स्वीकार की और सद्गति को प्राप्त हुआ। सैनिकों ने आकर बाहड़ मन्त्री को पिता की अन्तिम इच्छा बतलाई। पिता की अपेक्षा बेटे सवाए होते हैं। बाहड़ ने तत्क्षण ही अभिग्रह धारण किया - जब तक पिता की इच्छा पूर्ण न कर सकूं, तब तक मैं भूमि पर शयन करूँगा, एकाशना करूँगा और ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

जीर्णोद्धार का कार्य प्रारम्भ हुआ। मन्दिर बनकर तैयार हो गया, किन्तु थोड़े ही दिनों बाद अचानक समाचार मिले कि मन्दिर में बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गई हैं। समाचार देने वाले को सोने की जीभ ईनाम में दी गई। किसी ने कहा - मन्त्रीश्वर, यह कैसे? ऐसे अनिष्ट समाचार देने वाले को आपने इतनी बड़ी बक्शीश दी। मन्त्रीश्वर ने कहा - मेरे जीते-जी मुझे यह समाचार मिले हैं इसीलिए इसका जीर्णोद्धार मैं पुनः करवाऊँगा। मेरे मरने के बाद पीछे कुछ होता तो! मन्त्रीश्वर स्वयं शत्रुंजय आए। शोध-खोज की। शिल्पकारों ने कहा - भमती में हवा भर जाने से ऐसा हुआ है। भमती भर दीजिए। बाहड़ ने कहा - भमती के बिना बनाइये। शिल्पकारों ने कहा - मन्त्रीश्वर! जो बिना भमती के मन्दिर बनाया जाए तो आपकी वंशवेल नहीं चलेगी। बाहड़ ने कहा - वंशवेल भले न रहे, वंशवेल से मेरा उद्धार होने वाला नहीं है, मन्दिर से मेरा उद्धार होगा। वंश-परम्परा में कोई कुपुत्र पैदा हो गया तो मेरी इकहत्तर पीढ़ी को डुबा देगा। जबकि परमात्मा के दर्शन से मेरी इकहत्तर पीढ़ी तर जाएगी। भमती बूर दी गई। आज भी देखो, दादा के मन्दिर के बाहर का भाग कितना पोला दिखाई देता है और अन्दर का गर्भगृह कितना छोटा लगता है। सुन्दर मन्दिर बनकर तैयार हो गया। विक्रम संवत् १२१३ में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी के करकमलों से विशाल महोत्सव के साथ इस मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार शत्रुंजय तीर्थ का चौदहवाँ उद्धार बाहड़ मन्त्री ने करवाया। इस उद्धार कार्य में बाहड़ ने एक करोड़ साठ लाख रुपये खर्च किए थे। सैकड़ों वर्ष के बाद आज भी यह मन्दिर उन्नत सिर के साथ खड़ा है। सैकड़ों साधर्मिक इसका आलम्बन लेकर तर रहें हैं । इसकी नींव में साधर्मिकों का शुद्ध प्रेम भरा हुआ है। मन्दिर बाहड़ मन्त्री का अवश्य है किन्तु प्रतिमाजी वस्तुपाल-तेजपाल की है। यह कैसे?

वस्तुपाल-तेजपाल . . . .

वस्तुपाल और तेजपाल पाटण के निवासी थे। उनकी माता का नाम कुमारदेवी और पिता का नाम आसराज था। आसराज स्वयं मन्त्री

थे। उनके गुरु हरिभद्रसूरिजी महाराज थे। (याकिनी महत्तरासूनु नहीं) आचार्य महाराज ने कुमारदेवी की भाग्यरेखा देखकर आसराज के साथ उसका विवाह सम्बन्ध करवाया था। उस युग में कुलगुरु ऐसे काम कर देते थे। आचार्य भगवन्त ने देखा कि कुमारदेवी की संतानें महाभाग्यशाली एवं शासनरत्न होंगी। कालक्रम से कुमारदेवी ने चार पुत्रों को जन्म दिया। उनमें प्रथम पुत्र मल्लदेव जो यशस्वी पुरुषों में अग्रगण्य के रूप मे प्रख्यात हुआ। दूसरा पुत्र वस्तुपाल, तीसरा पुत्र तेजपाल और चौथा पुत्र था लुणिग्ग। इन चार पुत्रों के बाद सात पुत्रियाँ हुई। संवत् १२२८ से १२९८ के समय में आसराज मन्त्री कटोसण के पास सुंवाला गाँव में रहते थे। सुंवाला गाँव में आसराज का स्वर्गवास हुआ। दोनों भाई माता-पिता के परम भक्त थे। पिता के स्वर्गवास से उनको बहुत बड़ा आघात लगा। चारों और पिता की स्मृतियाँ ही फैली हुई नजर आती थीं। वे एक क्षण भी अपने पिता को भूल नहीं पाते थे। मनोव्यथा के अधिक बढ़ जाने से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि पिताजी की स्मृतियों के बीच में हम जीवित नहीं रह सकेंगे। क्षण-क्षण में उनकी यादें बेचैन बना देती हैं। इसीलिए वे माता के साथ माण्डल आए। परमेश्वर के समान वे माता की भी भक्ति करते थे। समय आने पर माता का भी स्वर्गवास हो गया। आघातों से उनका दिल टूट गया। शोकमग्न हो गये। ऐसी स्थिति में मातृ पक्ष से मुनि बने हुए नरचन्द्रसूरिजी वहाँ पधारे। दोनों भाई गुरु महाराज को वन्दन करने के लिए गए। संसार की क्षणिकता को समझाने वाली देशना को सुनकर वे कुछ शोकमुक्त हुए। गुरु महाराज ने आदेश दिया कि तुम तीर्थयात्रा के लिए जाओ जिससे मन हल्का हो जाएगा। तीर्थयात्रा हेतु निकलते हैं। सारी सम्पत्ति साथ लेकर निकलते हैं। उस समय में गाँव-गाँव में सीमाएं बदल जाती थीं। लूटेरों का बहुत भय रहता था। इतनी सारी सम्पदा साथ लेकर घूमना जोखिम भरा था अतः उन्होंने यही निर्णय किया कि हडाला ग्राम के पास सम्पत्ति को जमीन में गाड़ कर आगे बढ़ें। उस समय में बैंक

आदि के कोई साधन नहीं थे। इस कारण से सम्पत्ति को जमीन में ही गाडते थे। अमुक प्रकार की कोई निशानी बना देते थे जिससे आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से धन लिया जा सके। वे वहाँ गड्ढा खोदते हैं किन्तु वहाँ तो **पुण्यशाली ने पगले-पगले निधान** अर्थात् पुण्यशाली जहाँ भी कदम रखता है वहाँ निधान प्रकट होता है। इस कहावत के अनुसार दूसरा निधान निकल गया। अब क्या करें? वस्तुपाल की पत्नी का नाम ललिता देवी था और तेजपाल की पत्नी का नाम अनुपमा था। वे दोनों बहुत ही निपुण और चतुर थीं। नामानुसार गुण थे। किन्तु चेहरे का रंग सांवला था। जब तेजपाल की सगाई हुई थी तब किसी ने आकर तेजपाल को कहा था कि तेरी पत्नी तो काली-कलूटी है। उस युग में शादी के पूर्व कोई भी एक-दूसरे को नहीं देखता था। उस समय तो माता-पिता जो करते वही सही होता था। उनके सामने कोई भी मुख नहीं खोलता था। आज युग बदल गया है। आज तो स्वयं ही खोज करते हैं। यही कारण है कि आज का जीवन विषमय बन गया है। तेजपाल ने विचार किया - माँ को तो कुछ कह नहीं सकते, तो क्या किया जाए? उसने क्षेत्रपाल देवता की मानता रखी। सगाई टूट जाएगी तो मैं अमुक धन खर्च करूगाँ। जीवन की भावी रेखा को कोई बदल नहीं सकता। मानता निष्फल हुई। विवाह करना ही पड़ा। विवाह के बाद उसके गुणों की सुवास सारे परिवार में फैल गई। स्वयं वस्तुपाल जेठ होने पर भी अनुपमा से परामर्श लेते थे। यहाँ भी निधान निकलते देखकर वे अनुपमा के पास राय लेने के लिए आए। राय मांगी। अनुपमा ने कहा - जेठजी! आपको ऊँचे चढ़ते जाना है या नीचे जाना है? ऊँचे जाना हो तो इस धन को ऊँचे स्थान पर लगाओ और नीचे जाना हो तो नीचे जमीन में गाड दो। वस्तुपाल पूछते हैं - ऊँचा गाड़ना किस प्रकार का होता है? अनुपमा कहती है - मन्दिर, उपाश्रय, दानशालाएं और धर्मशालाएं बनवाइए। जनता देखे किन्तु एक कंकर भी नहीं ले सके। उसके बाद तो आबू के मन्दिर आज भी अनुपमा कि

वास्तविक परामर्श को प्रत्यक्ष करते हुए खड़े हैं। ऐसे तो अनेकों उत्तम कार्य करते हुए तीर्थयात्रा करके धोलका आए।

धोलका में स्थायी निवास ....

उस समय धोलका में वाघेला का राज्य था। व्याघ्रपल्ली से आकर बस जाने के कारण वे वाघेला कहलाए। वहाँ लवणप्रसाद का पुत्र वीरधवल का राज्य था। दोनों भाई धोलका में आकर रहने लगे। वहाँ राजपुरोहित सोमेश्वर से परिचय होता है। एक समय रात्रि में सिद्धराज की स्वर्गीया माता मीनल देवी ने इन दोनों पिता-पुत्रों को और नगर सेठ को स्वप्न में कहा - आज दो भाई आयेंगे, उनको मन्त्री बना देना। ये दोनों गुजरात को समृद्ध बनाएंगे। प्रातःकाल नगरसेठ और पिता-पुत्र तीनों एकत्रित हुए तथा अपने-अपने स्वप्नों की बात की। राजपुरोहित को बुलाया। पुरोहित ने कहा - हाँ, दो भाई आये हुए हैं, वे दोनों बहुत ही चतुर, निपुण और प्रतिभा सम्पन्न हैं। मेरा उनके साथ अच्छा परिचय है। दोनों को राजसभा में बुलाया गया। थोड़ी देर वार्तालाप करने के पश्चात् उन्हें मन्त्रीमुद्रा स्वीकार करने के लिए कहा गया। मन्त्रीपद की जिम्मेदारी भी उनको बतलाई गई। वस्तुपाल ने विचार किया कि यदि राजा वश में होगा तो अनेक उत्तम कार्य होंगे। अतः राजा के समक्ष उन्होंने अपनी स्वयं की शर्तें रखीं। हम हमारी धर्मक्रिया सम्पन्न करने के बाद ही राजसभा में आयेंगे और हमारे पास इस समय तीन लाख की सम्पत्ति है वह आपको सौंपते हैं। यह तो राज्य कहलाता है। चाहे जब खटपट हो जाती है। राजा हमेशा कच्चे कान के होते हैं इसीलिए हमको जब मुक्त किया जाए उस समय यह सम्पत्ति हमको वापिस मिलनी चाहिए। शर्तें स्वीकृत हुईं, मन्त्रीमुद्रा स्वीकार की गई, वस्तुपाल ने मन्त्रीपद स्वीकार किया और तेजपाल को सेनापति पद पर स्थापित किया। दोनों भाईयों को अच्छा स्थान और अच्छा पद मिल गया था। प्रारम्भ में तो कुछ ठाकुरों ने - ये तो वणिक हैं, इनमें युद्ध करने की शक्ति कहाँ से होगी? ऐसा सोचकर

सिर ऊँचा करने लगे। दोनों भाई निकल पड़े। तेजपाल युद्धकला में निपुण था अतः एक के बाद एक ठाकुर-सम्बन्धियों को पराजित कर अधीन करने लगे।

युद्ध-कौशल ....

गोधरा का राजा गुगल नाम का था। वह बहुत घमण्डी और दिमागफिरा था। उसने वीरधवल राजा के पास साड़ी और मिस्सी की डब्बी भिजवाई। तुम सब नामर्द हो इसीलिए ये वस्तुएं भिजवा रहा हूँ। वीरधवल राजा ने इसका प्रतिकार करने के लिए राजसभा में पान का बीड़ा फेरा। तेजपाल ने वह बीड़ा झडप लिया। चुने हुए सैनिकों को साथ लेकर वह निकल पड़ा। पहले तो अपने सैनिकों के द्वारा गुगल राजा के राज्य मे से गायों की चोरी करवाई। गुगल राजा थोड़े से सैनिक लेकर गायों के रक्षण के लिए वहाँ आया। उसी समय तेजपाल ने उसको घेर लिया। दोनों के बीच में युद्ध हुआ। अन्त में गुगल राजा हार गया। तेजपाल ने उसको साड़ी पहनायी और दांतो पर मिस्सी लगाकर शहर में घुमाया। इस घोर अपमान से गुगल अत्यन्त व्यथित हुआ और अपनी जीभ के टुकड़े कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। ऐसे अच्छे-अच्छे राजाओं को तेजपाल ने भूलुंठित कर दिया। चारों तरफ इन भाईयों की 5कीर्त्ति फैलने लगी। राज्य अत्यन्त समृद्धशाली बना और राज्य-भंडार भी समृद्ध हुआ।

वस्तुपाल की संस्कृत-रसिकता ....

वस्तुपाल समस्त कार्यों में निपुण था। वह संस्कृत भाषा का रसिक था। संस्कृत भाषा में सुभाषितों की रचना करने की इच्छा थी। उसका विद्यामण्डल प्रसिद्ध था। राजकार्य में अत्यन्त व्यस्त होने पर भी स्वयं के नियमों का पालन करने में दृढ़ था। वह स्वयं ताड़पत्रीय ग्रन्थ लिखा करता था। उसके हस्ताक्षरों के ग्रन्थ आज भी खम्भात के ज्ञान भंडारों मे हैं। खम्भात का अधिकार संभालते-संभालते उन्होंने **धर्माभ्युदय काव्य** लिखा।

साढ़े तेरह संघ निकालोगे ....

उस समय में तीर्थयात्रा अत्यन्त ही दुर्लभ थी। सीमाएं बदलती रहतीं, इससे लूटेरों का भय अधिक रहता था। उस समय संघ की प्रथा चालू हुई। कोई बड़ा धनवान होता तो वह संघ निकालता और उस संघ में हजारों यात्रिगण सम्मिलित होते। वस्तुपाल ने संघ निकालने की तैयारी की। सात लाख यात्री थे। संघ लेकर निकला, नगर की सीमा से बाहर आते ही चिड़िया की गहरी आवाज उसके कानों में पड़ी। वस्तुपाल ने ज्योतिषि को पूछा - यह आवाज अच्छे शकुन वाली है किन्तु इसका अर्थ क्या है? ज्योतिष की गणना करके ज्योतिषि ने कहा - इस चिड़िया की आवाज कितनी दूर से आ रही है? खोज करने पर ज्ञात हुआ कि यह चिड़िया की आवाज साढ़े तेरह मकान के बाद से आ रही है। उस आधार पर ज्योतिषि ने कहा - आप साढ़े तेरह संघ निकालेंगे। (कहीं-कहीं साढ़े बारह संघ की बात आती है।) जाओ विजय करो। संघ ने प्रयाण किया। प्रत्येक गाँव और प्रत्येक संस्थाओं में सहायता करता हुआ सिद्धाचल पहुँचा। यात्रीगण गिरिराज पर चढ़े। अन्य प्रसंग के अनुसार वस्तुपाल यात्रार्थ गए थे उस समय दादा के प्रक्षाल में अत्यधिक भीड़ थी। लाखों यात्री थे। जीवन में एक-आध बार यात्रा होती है। लोग उत्साह में थे। स्पर्द्धा से एक के ऊपर एक गिर रहे थे। वहाँ पुजारी ने देखा कि किसी के हाथ से कलश छूट कर भगवान् पर गिर गया तो भगवान् की मूर्त्ति खंडित हो जाएगी। इस भय से भगवान् को नाक पर्यन्त फूलों से ढंक दिया। आज के समान कलश भी छोटे-छोटे नहीं होते थे उस समय तो घड़ों के समान बड़े कलश होते थे। वस्तुपाल ने यह दृश्य देखा, उसका मन कम्पित हो उठा। कलश आदि के कारण अथवा भविष्य में मुसलमानों का भय है, वे मुसलमान बादशाह जब चाहे तब चढ़ आते है। मेरे भगवान् को किसी प्रकार का नुकसान न हो कि मेरे साधर्मिक भाई प्रभु दर्शन से वंचित

रह जाएँ। वहाँ पुनडशाह नाम के समृद्धिमान सेठ दिल्ली से संघ लेकर आए थे। वस्तुपाल ने उनसे कहा - आपके बादशाह के साथ अच्छे सम्बन्ध हैं, वहाँ दिल्ली में मम्माणी नाम के पत्थर की खान है। उसमें से मूर्त्ति के लिए पत्थर दिलाओ। वह पत्थर यहाँ लाकर रखेंगे तो भविष्य में अपने साधर्मिकों को किसी प्रकार की बाधा नहीं आएगी। पुनडशाह ने कहा- देखूँगा। मूर्त्तिभंजक बादशाह के पास से मूर्त्ति के लिए कैसे पत्थर प्राप्त किया जा सकता है? वस्तुपाल राज्य में लौटे पर उनके हृदय में दादा की प्रतिमा के लिए पत्थर कैसे प्राप्त किया जाए, इसका चिन्तन चालू रहा।

प्रभु के लिए पाषाण प्राप्त किया....

उसी समय में दिल्ली के बादशाह की अम्मा मक्का-मदीना में हज करने के लिए दल-बल के साथ निकली थी। खम्भात-बंदर पहुँची। वस्तुपाल ने अपने सैनिकों को आदेश दिया - जाओ, बादशाह की माँ को लूट लो और समस्त माल के साथ मेरे सामने उपस्थित करो। बादशाह की माँ को लूटना यह जान-जोखिम का कार्य था। जो बादशाह को खबर पड़ जाए तो बात प्राणों पर आ जाए। फिर भी धर्म के लिए वस्तुपाल जोखिम को उठाता है। वस्तुपाल के सैनिकों ने उनको लूट लिया। वस्तुपाल के पास शिकायत करती हुई बादशाह की माँ आई। वस्तुपाल बोले - माँ, आप तनिक भी चिन्ता न करें। लूटेरों को तुरन्त ही पकड़ लिया जाएगा। किसकी शक्ति है कि आपको लूट सके? मै आपका समस्त माल-असबाब आपकी सेवा में प्रस्तुत कर दूँगा। आप आराम करिए। बादशाह की माँ तो ऐसे विवेकपूर्ण उत्तर से अत्यन्त प्रसन्न हुई। स्वयं के आदमियों के द्वारा लूट का कार्य हुआ था अतः समस्त माल हाजिर कर दिया गया। छोटी से छोटी चीज भी प्रस्तुत कर दी गई। बादशाह की माँ तो खुशी के मारे पागल हो गई। वस्तुपाल ने कहा - माँ, मै अब तुम्हें अकेला नहीं जाने दूँगा। मै भी आपके साथ हज करने के लिए चलूँगा। बीच मे छोटे-मोटे

लुटेरे आपको परेशान न करें। केवल इतना ही नहीं किन्तु मदीना जाकर वस्तुपाल ने चांदी का तोरण चढ़ाया। यह सब कुछ धर्म के लिए किया। हज करके वापिस लौटे। दिल्ली तक छोड़ने के लिए वस्तुपाल साथ जाता है। वस्तुपाल नगर के बाहर डेरा डालता है। बादशाह की माँ नगर में आती है। बादशाह से मिलती है। बादशाह पूछता है - माँ! हज कर आयी, यात्रा अच्छी तरह से पूर्ण हुई, किसी प्रकार की तकलीफ तो नहीं हुई। माँ कहती है - पुत्र! तू तो यहाँ बैठा-बैठा राज करता है। मेरे असली पुत्र ने मुझे हज करवाया। मेरी सब प्रकार से सार-संभाल रखी और मुझे यहाँ तक छोड़ने आया। बादशाह कहता है - माँ! तुम्हारा वह असली पुत्र कौन है? उसको तुम साथ क्यों नहीं लाई? माँ ने कहा - वह नगर के बाहर डेरा डालकर ठहरा हुआ है। बादशाह वस्तुपाल को सभा में बुलाता है। सन्मान कर कहता है - तुमने मेरी माँ की खूब सार-संभाल की। मैं प्रसन्न हूँ। जो चाहो सो माँग लो। वस्तुपाल कहता है - हे राजन्! मुझे अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है किन्तु मम्माणी खदान में से पत्थर चाहिए। बादशाह ने कहा - बस, माँग-माँग कर पत्थर माँगा? अरे! कुछ जमीन, जायदाद, जवाहरात माँगते। वस्तुपाल ने कहा- बस आपकी कृपा चाहिए। पत्थर निकालने की आज्ञा मिल गई। खदान में से पाँच पत्थर निकाले गये। उन पत्थरों का गाँव-गाँव में सामैया हुआ। वाजते-गाजते पूजा के साथ ये पत्थर गिरिराज पर लाए गये और वहाँ तलघर में रखे गये। इस पत्थर में से दादा की मूर्त्ति किस प्रकार बनी? आगे देखिए।

शत्रुंजय का १५वाँ उद्धार ....

पेथड़ शाह ने शत्रुंजय पर स्वर्ण पट्टी से मढा मन्दिर बनवाया। उस समय मुगल बादशाह का राज्य चल रहा था। चौहदवीं शताब्दी के मध्य में अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल था। उसने अनेकों जिन-मन्दिरों को भूलुंठित करवा दिया था। वह १ लाख सैनिकों के साथ शत्रुंजय पर चढ़ा। मन्दिरों को लूटने लगा। स्वर्ण की पट्टियों को निकाल लिया। इतना

ही नहीं उसने मूलनायक भगवान् की मूर्त्ति को भी खंडित कर दिया। चारों ओर हाहाकार मच गया। मुसलमानों का राज्य फैला हुआ था। हिन्दु राजागण कमजोर पड़ गये थे। ऐसी विकट परिस्थिति में पुनः प्रतिष्ठा कौन करावे? यह एक प्रश्न था। बादशाह मूर्त्तिभंजक थे, अतः उनके पास से अनुमति प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। पाटण में समराशाह नामक एक मुख्य श्रावक था। उसका दिल्ली के बादशाह के साथ अच्छा परिचय था। समराशाह दिल्ली पहुँचा। उसने बादशाह से विनंती की, समराशाह का प्रभावशाली व्यक्तित्व होने के कारण बादशाह उसकी बात को नहीं टाल सका। मूर्त्ति की प्रतिष्ठा के लिए आज्ञा प्राप्त की। सब लोग पाटण आए। संघ एकत्रित हुआ। किस पत्थर की मूर्त्ति बनाई जाए? यह प्रश्न खड़ा हुआ। समराशाह ने संघ को कहा - वस्तुपाल के लाए हुए पाषाण रखे हुए हैं, उनको भण्डार से निकालने की अनुमति प्रदान करें। संघ ने अस्वीकार कर दिया। कठिनतम समय आ गया है। भविष्य में काम देगा अतः दूसरा पाषाण निकलवा कर उसकी मूर्त्ति बनवाओ। दूसरा पाषाण निकाला गया। बत्तीस-बत्तीस बैलों की जोड़ी से वह पाषाण पालीताणा लाया गया। गाँव-गाँव में इस पाषाण का प्रवेशोत्सव किया गया। उस पत्थर को गढ़कर मूर्त्ति बनाई गई। समराशाह ने विक्रम संवत् १३७१ में बड़े महोत्सव के साथ प्रतिष्ठा करवाई। आज भी समराशाह और उसकी पत्नी समरश्री की मूर्त्ति गिरिराज पर विद्यमान है। पुनः विक्रम संवत् १४५६ और १४६६ में किसी मुगल बादशाह ने मूर्त्ति को खंडित कर दिया, केवल सिर ही विद्यमान रहा। सौ वर्षों तक केवल मस्तक की ही पूजा होती रही। यात्रीगणों का आना-जाना बंद हो गया। कोई भूला-चूका यात्री आता और दर्शन करके चला जाता। श्रावकगण बहुत ही दुःखी और व्यथित हुए। संघ में घबराहट व्याप्त हो गई। कोई समाधान नहीं निकल रहा था। ऐसे समय में धर्मरत्नसूरिजी महाराज मारवाड़ में विचरण करते हुए संघ लेकर मेवाड़ आए। चित्तौड़गढ़ में प्रवेश किया। उस समय चित्तौड़ में तोलाशा

बड़े व्यापारी थे। उनके पाँच पुत्र थे। गुरु महाराज के पधारने से पाँचों पुत्रों के साथ तोलाशा वन्दन करने के लिए आए। वन्दन के पश्चात् पूछा - साहेब! मेरे मन कि इच्छा - भावना पूरी होगी या नहीं? आचार्य भगवन् ज्ञानी थे, विचार कर उत्तर दिया - तोलाशा! तुम्हारी भावना अवश्य पूर्ण *होगी, किन्तु तुम्हारे पुत्र के हाथ से और मेरे शिष्यों के द्वारा।* तोलाशा ने शकुनपूर्ण बात समझकर वस्त्र के किनारे गाँठ लगा ली। उनकी भावना शत्रुंजय तीर्थ पर भगवान की प्रतिष्ठा करवाने की थी। आचार्य महाराज ने स्वयं के दो शिष्य - विद्यामण्डनविजय और विनयमण्डनविजय को वहाँ चित्तौड़ में रख कर स्वयं ने विहार किया। चातुर्मास में कर्मांशा आदि बहुत से लोग धर्म का अभ्यास करने लगे। एक समय कर्मांशा ने आचार्य भगवन् को स्वकार्य की याद दिलायी। आचार्यदेव ने उन्हें एक चिन्तामणि मन्त्र दिया। कर्मांशा उस मन्त्र का जाप करने लगे। कपड़े के बहुत बड़े व्यापारी थे। ग्राहकी खूब बढ़ी। आय भी बहुत अधिक होने लगी।

गुजरात की राजधानी चाम्पानेर थी। मोहम्मद बेगड़ा राज्य करता था। उसने जूनागढ़ और पावागढ़ दो गढ़ जीत लिए थे इसीलिए वह बेगड़ा कहलाता था। मोहम्मद बेगड़ा की मृत्यु के पश्चात् मुजफ्फर बादशाह गद्दी पर आया। उसके छोटे भाई बहादुर खान को योग्य जागीरी न मिलने के कारण क्रोध से वह चला गया था। अनेक ग्रामों में फिरता हुआ वह चित्तौड़ आ पहुँचा। चित्तौड़ में कर्मांशा का वस्त्रों का बहुत बड़ा व्यापार चलता था। बहादुरखान ने कर्मांशा की दुकान से बहुत सारा कपड़ा खरीदा। इस प्रकार इन दोनों के बीच में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया। एक समय गोत्रदेवी ने स्वप्न में कर्मांशा को कहा - इस बहादुरखान से तेरे कार्य कि सिद्धि होगी। देवी के वचनानुसार कर्मांशा ने बहादुरखान के साथ गाढ़ परिचय बना लिया। शाहजादा के पास रुपये खत्म हो गए। बिना शर्त और लिखापढ़ी के कर्मांशा ने उसको १ लाख रुपये दिये। शाहजादा बहुत आनन्दित हुआ और उसने कहा - हे मित्र! मै तुम्हारा

उपकार जीवन भर नहीं भूलुँगा। कर्माशा ने कहा – मित्र ऐसा मत कहिए। आप तो हमारे मालिक हैं। मेरी तो केवल एक ही अर्ज है कि जब भी आपको राज्य मिले उस समय मेरी जो उत्कृष्ट अभिलाषा है उसे आप अवश्य पूर्ण करें। शाहजादा बहादुरखान ने वचन दिया। कुछ दिन पश्चात् बहादुरखान वापस गुजरात की ओर चला।

सोलहवाँ उद्धार कर्माशा का ....

इस ओर गुजरात में मुजफ्फर बादशाह की मृत्यु होने पर उसका पुत्र सिकन्दर गद्दी पर बैठा। वह अत्यन्त नीतिमान था, किन्तु दुर्जनों ने कुछ दिनों में ही उसे मौत के घाट उतार दिया। उसकी मृत्यु के समाचार बहादुरखान को मिले, वह शीघ्रता से चलता हुआ गुजरात पहुँचकर चाम्पानेर आया। विक्रम संवत् १५८३ में उसका राज्याभिषेक हुआ। उसने अपने साहस और चतुर बुद्धि से अनेक राजाओं को पराजित कर दिया। पूर्वावस्था में जिन-जिन व्यक्तियों ने उसकी सहायता की थी उन सब को अपने पास बुलाकर उनका उचित आदर-सत्कार किया। स्वयं पर निःस्वार्थ उपकार करने वाले कर्माशा को बुलाने के लिए आज्ञापत्र भेजा। कर्माशा भी उनके योग्य भेंट लेकर वहाँ पहुँचा। कर्माशा के पहुँचने पर बादशाह स्वयं सन्मुख गया और प्रेम से आलिंगन किया। राज्यसभा में कर्माशा के निष्कारण परोपकारिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बादशाह ने कर्माशा के रहने के लिए एक सुन्दर शाहीमहल दिया। कुछ दिन कर्माशा वहाँ रहे। एक बार बादशाह ने प्रसन्नचित्त होकर कहा – मित्रवर! तुम्हारा क्या इष्ट करूँ? मेरे हृदय को खुश करने के लिए मेरे राज्य का कोई भी देश स्वीकार करो। कर्माशा ने कहा – राजन्! आपकी कृपा से मेरे पास बहुत कुछ है। मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। आपसे केवल एक अनुमति चाहता हूँ। मुझे शत्रुंजय तीर्थ पर मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करवानी है, यह बात मैं आपको पहले भी कह चुका हूँ। यह सुनकर बादशाह ने कहा- हे कर्माशा! तुम्हारी जो इच्छा हो वह निःशंक होकर पूर्ण करो। मैं

फरमान लिख देता हूँ। बादशाह ने फरमान लिखवाया और कर्माशा को दिया। फरमान मिलने के साथ ही कर्माशा का मनमयूर नाच उठा। फरमान लेकर खम्भात आए। खम्भात संघ ने भव्य सामैया किया। सम्पूर्ण संघ जो काम नहीं कर सका वह अशक्य कार्य मेवाड़ के एक बनिये ने किया। उपाश्रय में गुरु महाराज विराजमान थे। उन्होंने आदेश दिया - भक्तों! अब विलम्ब किए बिना ही कार्य प्रारम्भ करो। मैं शीघ्र ही विहार कर पालिताणा पहुँचता हूँ और आप लोग भी आवें। कर्माशा भी संघ और परिवार के साथ पालिताणा आए। गाँव-गाँव में कर्माशा का सम्मान कर उन्हें वधाया गया। अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि मूर्त्ति किस पत्थर की बनवाई जाए? किसी ने कहा - वस्तुपाल द्वारा लाए गये पाषाण पड़े हुए हैं, उसी की बनायी जाए, किन्तु वे पत्थर कहाँ पड़े हुए हैं किसी को कोई खबर नहीं थी। पूछताछ करते-करते समरा नामक पुजारी ने कहा - अमुक स्थान के भूमिगृह में हैं। पाषाण बाहर निकाले गये, चारों तरफ आनन्द ही आनन्द छा गया। आदिपुर में छावनी बनायी गई। समस्त साधु संघ वहाँ पहुँचकर कोई तप में और कोई जप में लीन हो गये। चारों ओर तपस्या की झड़ी लग गई। कोई दो महीने के, कोई चार महीने के और कोई छः महीने के उपवास, आयम्बिल आदि तप-जप करने लगे। मूर्त्ति तैयार होने लगी। अनेक शुभ भावनाओं और चारों तरफ के शुभ परमाणुओं के साथ मूर्त्ति पूर्ण रूप से तैयार हो गई। विद्वानों को बुलाया गया। प्रतिष्ठा का मुहूर्त विक्रम संवत् १५८७ ज्येष्ठ वदि ६ रविवार श्रवण नक्षत्र निश्चित हुआ। प्रत्येक प्रदेशों में आमंत्रण पत्रिका भेजी गई। सौ वर्ष के बाद प्रतिष्ठा हो तो किसको आनन्द नहीं होगा? लाखों की मानवमेदनी उमड़ कर वहाँ आयी। हर्षित होकर सब लोग नाचने लगे। ज्येष्ठ वदि ६ के दिन शुभ मुहूर्त में सभी लोग एकत्रित हुए। प्रतिष्ठा का विधि-विधान चल रहा है। चारों ओर दिव्य ध्वनि और दिव्य वातावरण प्रसरित हो रहा है। जिस समय प्रतिष्ठा की जाती है उस समय मूर्त्ति ने सात श्वासोच्छ्वास लिए थे। मूर्त्ति

जीवन्त बन गई। लोगों ने हर्षोल्लास में आकर इतना सोना उछाला कि मानो सोने का पर्वत हो गया हो। बहुत ही धाम-धूम महोत्सव के साथ प्रतिष्ठा हुई। जब दादा की पलांठी के नीचे नाम लिखने का समय आया उस समय श्री विद्यामण्डनसूरि ने अपना नाम लिखवाने के लिए स्पष्ट ना कह दिया। दादा की पलांठी में नाम लिखा जाता हो तो कौन छोड़ेगा? किन्तु वे तो निःस्पृही, त्यागी-तपस्वी महात्मा थे इसीलिए पलांठी पर लिखा गया - **सूरिभिः प्रतिष्ठितं** आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित की गई। ऐसे त्यागी महात्माओं के तप-जप और प्राण इस मूर्त्ति में सिंचित हुए हैं। आज भी दादा का जय-जयकार हो रहा है। पूजा की ढाल में आता है -

पंदरसो सत्याशीअे रे, सोलमो अे उद्धार, कर्माशाअे करावीअे रे,
वर्ते छे जय जयकार हो जिनजी भक्ति हृदय मां धारजो रे....

जिस आचार्य ने यह प्रतिष्ठा की थी उनके आज्ञानुवर्ती विवेकधीरविजयजी महाराज ने ज्येष्ठ वदि ७ के दिन **शत्रुंजय नो उद्धार** इस नाम का ग्रन्थ लिखा। उसी ग्रन्थ में यह सब उल्लेख है। उस ग्रन्थ की टिप्पणी में ही लिखा गया है कि भगवान् ने सात बार श्वासोच्छ्वास लिए। प्रतिष्ठा कराने वाले कर्माशा के वंशज आज भी चित्तौड़-उदयपुर में निवास करते हैं। वस्तुपाल ने साधर्मिक बन्धुओं के लिए जो परिश्रम किया था उसी में से निर्मित ये दादा आज भी लाखों लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। इस कलियुग में भी ये दादा प्रत्यक्ष हैं। कुछ वर्षों पूर्व हुआ चमत्कार देखिए।

स्वदृष्टि से देखा गया अद्‌भुत अभिषेक और चमत्कार ....

विक्रम संवत् २०४३ आषाढ़ सुदि एकम का दिन था। मेरा (साहेबजी) और प्रद्युम्नविजयजी महाराज का चातुर्मास पालिताणा में निश्चित हुआ था। सभी साथ में थे। तीन वर्ष से भयंकर अकाल पड़ रहा था। इस वर्ष भी ऐसी ही स्थिति थी। भयंकर हवाएं चल रही थीं मानो राक्षसगण अट्टाहास कर रहे हों! मानो अनेकों मौत की गोद में सोने वाले हों! भयंकर गर्मी! गिरिराज पर चढ़ते हुए मार्ग में जो कुण्ड आते हैं वे

कुण्ड भी एकदम खाली! अरे, ऊपर पूजा करने के लिए नहाने हेतु पानी भी नहीं मिलता था, ऐसी विकट परिस्थिति थी। अचानक प्रद्युम्नसूरिजी के हृदय में विचार स्फुरित हुआ कि दादा का अट्ठारह अभिषेक करवाया जाए। बहुत वर्ष हो गए, किसी प्रकार की आशातना हुई हो तो वह दूर हो जाएगी। ऐसा उन्होंने मुझे कहा, मगर गिरिराज के ऊपर श्रेणिक भाई की अनुमति के बिना कुछ नहीं हो सकता था अतः श्रेणिक भाई से दूरभाष द्वारा हमने सम्पर्क किया। श्रेणिक भाई ने उत्तर दिया - महाराज साहेब! अभी नहीं, यह कार्यक्रम चातुर्मास में रखिए। अभी तो यात्रीगणों को भी कठिनाई होगी। हमने कहा - चौमासे में हम ऊपर कैसे चढ़ सकते हैं? अभी ही अट्ठारह अभिषेक करवाने की अनुमति दीजिए। हमारे (साहेबजी के) कहने से श्रेणिक भाई ने आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी पर दूरभाष से कह दिया-महाराज साहब जैसा कहें वैसा करने दें। अनुमति मिल गई। तत्काल ही चन्दुभाई घेटीवाले और रजनीभाई देवड़ी को बुलाया। चन्दुभाई हवाई जहाज से आए। अभिषेक धाम-धूम से करना था। समय कम था। समस्त प्रकार की औषधियाँ मंगवाई गई। प्रमुख-प्रमुख तीर्थों का पानी हवाई जहाज के द्वारा मँगवाया। सभी सामग्री पालिताणा में लाकर केशरियाजी के उपाश्रय में इकट्ठी की गई। औषधियों को कूटने के लिए ४० बहनों को रखा गया। चारों तरफ औषधियों की सुगन्ध व्याप्त हो गई। अखबारों में छोटी सी जाहिर सूचना भी निकाली गई।

वह मंगलमय आषाढ़ सुदि एकम का शुभ दिन आ पहुँचा। हम सब ऊपर चढ़े। मेरी (साहेबजी की) पूज्य माताजी बा महाराज भी डोली में ऊपर गयीं। ९ बजे अभिषेक प्रारम्भ हुआ। दादा के शिखर पर ध्वजा चढ़ाने के लिए एक पुजारी ऊपर चढ़ा। ध्वजा चढ़ाकर नीचे उतरा, उसको सौ रुपये इनाम में दिए गए।

दादा की ध्वजा चढ़ने के साथ ही वातावरण बदलने लगा। साथ ही रिमझिम वर्षा चालू हो गई। मेरी (साहेबजी की) मातुश्री पाँच

अभिषेक तक बैठी रहीं, उसके बाद उनकी अस्वस्थता के कारण बैठने मे असमर्थ होने से वे नीचे उतरने लगीं। वे तो छालाकुंड तक पहुँची ही होंगी तब तक तो मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। मातुश्री एक घण्टे तक छालाकुंड में बैठी रहीं। इधर ऊपर दादा का छठा अभिषेक प्रारम्भ हुआ और दादा ने हमारा अभिषेक करना प्रारम्भ कर दिया। शशिकान्त भाई ने कहा - दादा कैसे दयालु हैं। हमने तो कुछ ही कलशों से अभिषेक करवाया किन्तु दादा ने तो करोड़ों कलशों से हमारा अभिषेक किया। हमारी दृष्टि के सामने ही गिरिराज पर चढ़ते हुए जिन कुडों में सूखी धूल ही धूल थी, वे सब कुंड जल से भर गये। वर्षा आने से दर्शकगण रंगमंडप में कहाँ खड़े रहे? ऐसी स्थिति आने पर सब लोग दादा के मन्दिर में आ गए। उसके बाद तो वे लोग क्या नाचे हैं? दिल खोलकर नाचे। इस अनूठी भक्ति की प्रतिध्वनि तत्काल ही पड़ी। जो भयंकर दुष्काल आने वाला था वह भाग खड़ा हुआ। चारों तरफ यह चर्चा चली कि कोई साधु आए हैं, उनके जादू/चमत्कार से यह वर्षा हुई है। तब से लेकर आज तक वहाँ दुष्काल नहीं पड़ा है। इस अभिषेक को जिन लोगों ने अपनी दृष्टि से नहीं देखा था उन लोगों ने पुनः अभिषेक कराया किन्तु जो पहला अभिषेक सहजभाव से हुआ था उस आनन्द का अनुभव तो जिसने देखा हो वही जान सकता है। उसका वर्णन शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय है। ऐसे अलौकिक हैं ये दादा। चाहे जैसे थकान से लोटपोट होने पर भी दादा के पास पहुँचते ही दादा के मुख-दर्शन से समस्त थकान भाग खड़ी होती है। इस मूर्त्ति में ऐसी अलौकिक शक्ति कहाँ से आयी? उसके पीछे रही हुई अनेक शुभ भावनाओं में से ही यह शक्ति प्रगट हुई है।

हमारे समस्त तीर्थंकर भगवान् क्षत्रिय वंश में हुए हैं। गौतम स्वामी आदि गुरुजन ब्राह्मण जाति में हुए है और इस धर्म का पालन करने वाले हम लोग (वैश्य) व्यापारी हैं।

पर्युषणा - तृतीय दिन

भादवा वदि अमावस

देदाशा ....

साधर्मिक वात्सल्य के प्रभाव से ही आज भी हजारों मानव संयम-पथ में विचरण कर रहे हैं, उनको किसी प्रकार की चिन्ता है क्या? आप एक दिन की यात्रा के लिए निकलते हो तो नाश्ता और भोजन के लिए कितनी तैयारी करते हो। जबकि पूर्ण जिन्दगी के लिए निकले हुए हमें क्या कल की चिन्ता होती है? नहीं होती है क्यों? संघ ने साधर्मिक के नाते हमारी समस्त जवाबदारी अंगीकार कर ली है। हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए कैसे-कैसे बलिदान दिए हैं, त्याग किए हैं।

निमाड़ नामक देश में नांदुरी नाम की नगरी है। देद नाम का एक वणिक वहाँ रहता था किन्तु वह अत्यन्त गरीब था। ऋण का ब्याज चुकाने की शक्ति न होने के कारण ऋण देने वालों के भय से वह जंगल की ओर भाग गया। उस जंगल में नागार्जुन नामक योगी रहता था। उस योगी के पास देद पहुँच गया। मूक भाव से योगी की सेवा करने लगा। कर्जदारों के भय से नगर में न जाने के कारण तीन दिन वह भूखा ही रहा। उसकी ऐसी उत्तम भक्ति से योगी प्रसन्न हो गया। देद की तो एक ही बात थी, **बहुत दे या मौत दे।** स्वयं की आप बीती योगी के समक्ष रख दी। योगी ने कहा - पहले तू भोजन कर ले। विद्या के बल से आकाश से थाली आयी। भोजन करने के पश्चात् कृपा के योग्य समझकर योगी ने उसको सुवर्णसिद्धि दी और कहा - इसका उपयोग केवल लोक-कल्याण के लिए ही हो। कहीं लोभ में डूब मत जाना। क्योंकि वणिक जाति हमेशा लोभी होती है। योगी से सुवर्णसिद्धि प्राप्त कर देद अपने घर आया। सोना बनाने लगा। प्रतिदिन सवा सेर सोने का दान देने लगा। सारे गाँव में देद

की देदा सेठ के रूप में प्रसिद्धि हो गई। कितने ही ईर्ष्यालुओं के मन में शंका जाग्रत हुई कि कल का यह भिखारी आज देदा सेठ कैसे बन गया? निश्चित ही उसे कोई निधान प्राप्त हुआ है। ऐसे लोगों ने राजा के कान भर दिये। राजा ने देदा को बुलाकर पूछा। देदा ने उत्तर दिया - मेरे पास कुछ भी नहीं है, मै कमाता हूँ और खर्च करता हूँ। किसी को ठगता नहीं, किसी को लूटता नहीं। खजाना भी नहीं निकला है। देदा की बात को राजा ने स्वीकार नहीं किया और उसको नजर कैद कर दिया। इस तरफ देदा की पत्नी विमलश्री ने देखा कि भोजन का समय होने पर भी देदाशा भोजन करने क्यों नहीं आए? इसीलिए भोजनार्थ देदाशा को बुलाने के लिए नौकर को भेजा। नौकर ने आकर कहा - भोजन के लिए पधारिए। देदाशा ने समय सूचकता को ध्यान में रखकर कहा - जाओ, तुम लोग नाश्ता कर लेना, मुझे भोजन नहीं करना है। नौकर ने आकर देदाशा की बात सेठानी को कह दी। विमलश्री समझ गई कि कुछ न कुछ दाल में काला है। घर में कोई अधिक वस्तुएं नहीं थी इसीलिए जो कुछ था उसे लेकर भाग छूटी। निमाड़ देश की सीमा पार कर ली और पति के सम्बन्ध में चिन्ता करने लगी।

श्री स्तंभन पार्श्वनाथ की महिमा . . . .

उस समय में श्री स्तंभन पार्श्वनाथ की अतिशय महिमा फैली हुई थी। इस तरफ देदाशा, पार्श्वनाथ भगवान् का स्मरण कर और उनका शरण लेकर सो गया। **आशा छोड़ के बैठ निराशा, फिर देख मेरे साहेब का तमाशा।** सब कुछ त्याग कर जब भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं तो वह अवश्य ही सहायता करता है। मध्यरात्रि में एकाएक कोई घुड़सवार वहाँ आया। उसका चारों तरफ प्रकाश फैला। देदाशा को जगाया और घोड़े पर बिठाकर सेठानी के पास छोड़कर वह अदृश्य हो गया। पत्नी ने पूछा - यहाँ कैसे और किस प्रकार आए? तब देदाशा ने कहा - मै स्तंभन पार्श्वनाथ की कृपा से यहाँ आया हूँ और पूरी घटना उसको सुना दी। मन

में मानता मानी थी कि भगवन्! जो इस विपदा में से छूट जाऊँ तो मैं आपकी सोने की आंगी बनवाऊँगा। जिस गाँव में दोनों मिले उसका नाम था विद्यापुर। वहीं पर निवास करने लगे। स्तंभन पार्श्वनाथ भगवान् की सोने की आंगी बनवाकर भगवान् को भेंट चढ़ाई। प्रतिदिन दान का प्रवाह तो चालू ही था। विद्यापुर से निकलकर देदाशा देवगिरि आए। देवगिरि बहुत समृद्ध नगर था। इसी कारण मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी बनाकर इसका नाम दौलताबाद अर्थात् दौलत से समृद्ध रखा था। इस दौलताबाद में तीन सौ साठ सेठ रहते थे। उन सेठों ने यह निर्णय लिया था कि प्रतिदिन साथ ही भोजन करना। एक के बाद एक क्रमशः नाम वर्ष पूर्ण होने के बाद आता था। बाहर से कोई भी श्रावक व्यापार करने के लिए आता था तो गांव के सभी श्रावकों की तरफ से एक-एक रुपया दिया जाता था। लगभग एक लाख जैन श्रावकों की आबादी थी, इस कारण नवागन्तुक श्रावक आने के साथ ही लखपति बन जाता था। ऐसे समृद्ध शहर में देदाशा आ गए। जहाँ श्रावकगणों की आबादी हो वहाँ मन्दिर और उपाश्रय तो होते ही हैं। चाहे शिकागो हो या अफ्रीका, अमेरिका हो या लंदन। देदाशा प्रभु के दर्शन कर मन्दिर के बाजू में उपाश्रय में विराजमान गुरु भगवन् को वंदन करने के लिए जाते हैं। उपाश्रय में समस्त श्रावकों का समूह बैठा हुआ था। उपाश्रय की टीप चल रही थी। रुपयों की खेंचातान चल रही थी। उस समय देदाशा बोले - भाई! व्यर्थ की खेंचातान क्यों कर रहे हो? इसका लाभ तो मुझे अकेले को ही प्रदान करो। उसी समय कोई वाचाल आदमी बीच में ही बोल उठा - क्या तुम सोने का उपाश्रय बनवाने वाले हो? देदाशा ने तत्काल ही उत्तर दिया - हाँ, सोने का उपाश्रय बनाऊँगा। लोग गर्दन उठाकर उनकी ओर देखने लगे। कोई भाई उनको पहचान गया - अरे! ये तो देदाशा हैं। ये जो बोलते हैं कर दिखाते हैं। इनकी सामर्थ्य तो ऐसी है कि ये चाहे तो सारे गाँव को सोने का बना दें। इसीलिए ये सेठ उपाश्रय को सोने का बनाएंगे

ही। अब सोचने का प्रश्न ही कहाँ रहा। पास में ही विराजमान गुरु महाराज के पास सब लोग पहुँचे और सारी घटना उनको निवेदन करते हुए बतलायी कि देदाशा सोने का उपाश्रय बनाने के लिए कहते हैं। गुरु महाराज ने कहा - देदाशा! इस हीनकाल/अवनति काल में सोने का उपाश्रय नहीं बनाना चाहिए। देदाशा ने कहा - महाराज! जो वचन निकल गया सो निकल गया। मैं तो सोने का उपाश्रय बनाकर ही रहूँगा। गुरु महाराज के बहुत कुछ समझाने पर भी देदाशा अपनी बात से टस से मस नहीं हुए। उपाश्रय का निर्माण कार्य चालू हुआ। उसी समय श्रेष्ठ केशर के ५० पोठे लेकर कोई सार्थवाह वहाँ से निकला। देदाशा ने ४९ पोठे चूने की चक्की में डलवा दिए। उपाश्रय स्वर्ण के रंग वाला बन गया। इस प्रकार देदाशा ने अपने बोले हुए वचन पूर्ण किए। एक पोठ समस्त मन्दिरों में भिजवा दी। सोने की कीमत के समान केशर का प्रयोग करके स्वर्ण जैसे रंग का, सोने की बराबर कीमत का उपाश्रय उन्होंने बनवाया। देदाशा के भतीजे का नाम सोना था। इसीलिए उपाश्रय का नाम भी सोना का उपाश्रय पड़ा। इस प्रकार साधर्मिक भक्ति की। कहाँ का निवासी कहाँ खर्च कर गया। साधर्मिकों द्वारा प्रदत्त अन्न पेट में जाने पर वह साधर्मिक भक्ति के लिए प्रेरित करता है। प्रभावना के अर्थ पर ही **परभावना** बना है जो दूसरे की भावना को प्रकट करता है। देदाशा का पुत्र पेथड़ शाह हुआ। पुत्र भी पिता के साथ सुवर्ण सिद्धि में सहयोग करता था। रोज सोना बनाना और उसका दान देना यह पिता-पुत्र का नित्य क्रम था।

समय बीतता गया। पेथड़ का लग्न प्रथमिणी के साथ हुआ था। पेथड़ का पुत्र झांझण हुआ था। यह छोटा सा परिवार आनन्द-कल्लोल में समय बिता रहा था। अचानक ही यमराज ने अपना डंडा उठाया। एक समय देदाशा की पत्नी विमलश्री ने पाँच दिनों का उपवास किया था। पारणे में अमृत रस के समान खीर का भोजन करने बैठी थी, उसी समय फूल देने के लिए मालण आयी, उसने वह खीर देखी। मालन की नजर

लग जाने के कारण उस खीर को खाने से विमलश्री को विसूचिका हो गई। थोड़े समय में ही उसका देहावसान हो गया। देदाशा को प्रबल आघात लगा। आघात में ही ज्वर चढ़ा। अन्त समय नजदीक जानकर पेथड़ को बुलाकर सुवर्ण सुद्धि का प्रयोग बतलाया। देदाशा भी काल कर गये। माता-पिता के अकस्मात् चले जाने के कारण पेथड़ को गहरा आघात लगा। **दुःखनुं ओसड दहाडा** अर्थात् दिवस बीतने लगे। पेथड़ ने स्वर्ण सिद्धि का प्रयोग किया किन्तु भाग्य ही विपरीत हो तो क्या किया जाए? वह प्रयोग-साधन में निष्फल हो गया। देदाशा तो सोना बनाकर दान में देते थे। घर में कुछ रखते नहीं थे। इसी कारण पेथड़ पूर्णतः निर्धन बन गया। पेथड़ और झांझण फेरी लगाकर अपना गुजारा चला रहे थे। उसी समय धर्मघोषसूरिजी महाराज पधारते हैं। वे कौन थे?

पेथड़ का परिग्रह-परिमाण . . . .

वड़वृक्ष के नीचे पूज्य जगत्चन्द्रसूरिजी महाराज की आचार्य पदवी हुई थी और इसी कारण यह वड़गच्छ कहलाया। वड़ के समान इसका विस्तार भी हुआ। यही कारण है कि पूर्व में ऐसे स्थानों पर पदवी दान आदि होता था। जगत्चन्द्रसूरिजी महाराज जीवन पर्यन्त दो द्रव्य से ही आयम्बिल करते थे। उग्र तपस्वी थे। आघाट नगर के राजा ने उनकी उग्र तपस्या को देखकर उन्हें **तपा** पदवी दी थी। इसी कारण से वह गच्छ आज भी तपागच्छ के रूप में पहचाना जाता है। मूलजड़ में तो महातपस्वियों की भावना ही सिंचित है इसी कारण आज भी चारों ओर तप, धर्म का बोलबाला है। उनके पट्टधर देवेन्द्रसूरिजी हुए। उनके शिष्य थे - धर्मघोपसूरिजी महाराज। छोटी अवस्था में ही उन्होंने छःहों विगइयों का त्याग कर दिया था। चौसठ योगिनियाँ उनके वश में थीं। अनेक सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त थीं। ऐसे प्रखर त्यागी तपस्वी धर्मघोषसूरिजी महाराज देशना दे रहे थे। परिग्रह-परिमाण पर व्याख्यान चल रहा था। उस व्याख्यान में पेथड़शाह भी आए हुए थे। गुरु महाराज ने श्रावकों को व्रत ग्रहण करने

के लिए प्रेरित किया। कोई भी श्रावक खड़ा नहीं हुआ। गुरु महाराज ने कहा – अन्त में आप अपनी इच्छा का परिमाण तो करिए। सारी सभा सुन रही थी किन्तु कोई भी श्रोता खड़ा नहीं हुआ। उसी समय पेथड़ शाह खड़े हुए और गुरु महाराज के पास जाकर हाथ जोड़कर कहा – साहेब! मुझे परिग्रह परिमाण करवाइए। दूसरे श्रावक लोग पेथड़ के मैले कुचैले कपड़ों को देखकर मजाक में कहा – हाँ, हाँ साहेब! इस पेथड़ को अवश्य कराइए। इतने में ही गुरु महाराज की दृष्टि पेथड़ की हस्तरेखा पर गई। गुरु महाराज ने पूछा – कितने का परिमाण करवाऊँ? पेथड़ ने कहा – बीस रुपये का। गुरु महाराज ने कहा – श्रावक को बीस रुपये का पच्चक्खाण नहीं होता है किन्तु जहाँ एक रुपया भी अंटी में न हो तो बीस रुपये भी अधिक होते हैं। पेथड़ ने कहा – तीस रुपये का करवाइए। गुरु महाराज ने कहा नहीं। खेंचते-खेंचते ५ लाख तक बात पहुँच गई। श्रावक समुदाय तो पेथड़ व आचार्य भगवन् का संवाद ही देख रहा था। सोच रहा था कि आचार्य भगवन् ने इस कंगाल में क्या देखा है? पेथड़ तो कम करने का कहता है और आचार्य बढ़ाने का कह रहे हैं? अन्त में पेथड़शाह थक गये और कहा – साहेब! जितने का भी आप कराना चाहें प्रसन्नता से कराइए नहीं तो रहने दीजिए। आचार्य महाराज ने ५ लाख का परिग्रह परिमाण कराया और वहाँ से विहार कर गए।

माण्डवगढ़ में पेथड़ ....

फेरी से काम न चलने के कारण पेथड़ ने दूसरे व्यापार का विचार किया। उस समय माण्डवगढ़ उन्नति के शिखर पर था। दोनों पिता-पुत्र ने माण्डवगढ़ की ओर प्रस्थान किया। २५ मील की सीमा में यह नगर बसा हुआ था। चारों तरफ प्राकृतिक पहाड़ थे और चारों तरफ खाईयों से यह नगर रक्षित था। उस नगर में प्रवेश करने के लिए एक ही दरवाजा था। ज्यों ही ये दोनों पिता-पुत्र दरवाजे के समीप पहुँचे और दरवाजे में घुसने लगे उसी समय उन्होंने काले नाग को आते हुए देखा। पेथड़शाह

संकोच में पड़ गये। अरे, कहीं यह अपशकुन तो नहीं हो रहा है? उसी समय सामने से एक ज्योतिषि आ रहा था। उसने यह दृश्य देखा और जोर से बोला - अरे मूर्खों! खड़े-खड़े क्या देख रहे हो, शीघ्र प्रवेश करो, शुभ शकुन है। काले नाग पर चिड़िया नाच रही है। एक सामान्य सी चिड़िया नाग जैसे भयंकर प्राणी को वश मे कर रही है। तुम लोग सोच में न पड़े होते तो यहाँ के राजा बनते। खैर, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, तुम बिना ताज के राजा हो जाओगे। पिता-पुत्र माण्डवगढ़ आए। न्याय-नीति से नमक का व्यापार चालू किया। चारों तरफ **पेथड़ लूणियो** के नाम से प्रसिद्धि हुई। नमक से अर्जित सम्पत्ति से उन्होंने घी का व्यापार चालु किया। ताजा और सुगन्धिदार घी उचित मूल्य पर बेचने लगे। अब **घीये** के नाम से प्रसिद्ध हो गये। भाग्य के दरवाजे खुले। एक समय एक रबारण (घी बेचने वाली) घी का घड़ा लेकर आयी। वह शीघ्रता के कारण घर से इंढोणी लाना भूल गई थी। इसीलिए रास्ते में किसी वेलड़ी के घास की इंढोणी बनाकर सिर पर रखकर आयी थी। पेथड़ के वहाँ इंढोणी सहित घड़ा छोड़कर वह दूसरे ग्राम में खरीददारी के लिए चली गई। पेथड़ को कह गई थी कि मुझे जल्दी है, इसीलिए आप घड़े का घी तौल लेना। पेथड़ की नीतिवान के रूप में कैसी अमिट छाप थी कि वह घी का भरा हुआ घड़ा उसके पास छोड़ गई। पेथड़ घड़े का घी खाली करके वापिस इंढोणी पर रख देता है। रबारण खरीददारी कर वापिस लौटती है और घड़ा लेने के लिए जाती है तो देखती है कि घड़े के कण्ठ तक घी भरा हुआ है। पेथड़ को कहती है - मै आपको कह गई थी कि घड़ा खाली करके रख देना। मुझे जल्दी है इसीलिए मै जा रही हूँ। पेथड़ विचार करता है कि मैंने अपने हाथ से घड़ा खाली किया है तो फिर यह वापिस कैसे भर गया? घड़े के नीचे देखता है तो उसे घास की इंढोणी नजर आती है। वह घास को पहचान जाता है। यह तो चित्रावेली है। इसके ऊपर जो भी वस्तु रखी जाए वह अक्षय होती है अर्थात् कभी खत्म नहीं होती है।

निश्चित ही यह चित्रावेली का प्रभाव है। फिर से घड़ा खाली कर उसको सौंपता है और रबारण को कहता है - यह नई और बढ़िया इंढोणी लेती जा। बाई तो नई इंढोणी लेकर घर चली जाती है। पेथड़ चित्रावेली को लेकर घी के कुण्ड के नीचे रख देता है। घी का कुण्ड अखण्ड ही रहता है। चाहे जितना घी निकालो किन्तु वह भरा हुआ ही रहता है। साथ ही सुगन्धिदार भी रहता है। चारों तरफ पेथड़ के घी की प्रशंसा होने लगी

झांझण का बुद्धि कौशल्य . . . .

राजा के कानों तक पेथड़ के सुगन्धित घी की बात पहुँचती है। राजा प्रतिदिन भोजन के समय कटोरा लेकर घी लाने के लिए दासी को भेजता है। एक समय पेथड़ झांझण को दुकान पर बैठाकर भोजन करने के लिए गया था, उसी समय राजा की दासी कटोरा लेकर घी लेने के लिए आती है। झांझण स्पष्टतः ना कह देता है। दासी कहती है- राजाजी भोजन करने के लिए बैठे हैं इसीलिए थोड़ा सा घी दे दो। झांझण दृढ़ता के साथ ना कर देता है और कहता है - जा, तेरे राजा को जाकर कह देना कि घी नहीं मिलेगा। दासी नाराज होकर वापस लौटती है और राजा को नमक मिर्च लगाकर बात कह देती है। राजा एकदम क्रोधित हो जाता है और अपने सेवकों को हुक्म देता है कि जाओ पेथड़ को पकड़कर ले आओ। सेवक पेथड़ को लेने के लिए उसके घर जाते हैं। राजसेवकों को देखकर पेथड़ घबरा जाता है। सोचता है - बड़ी कठिनाई से व्यापार जमा था और इधर राजा का बुलावा आ गया। राजपुरुषों ने उसको दुकान पर भी नहीं जाने दिया और सीधे राजा के पास ले गए। राजा ने पूछा - अरे पेथड़! तूने आज घी क्यों नहीं दिया? पेथड़ ने कहा - हे देव! मै उस समय दुकान पर नहीं था, मेरा पुत्र था। उसने घी क्यों नहीं दिया, मैं नहीं जानता। यह सुनकर राजा ने तत्काल ही राजसेवकों को हुक्म दिया कि जाओ और झांझण को पकड़कर ले आओ। उस समय पेथड़ विचार करने लगा -

अहो! आज मैंने पुत्र को दुकान पर क्यों बिठाया? अथवा **विनाशकाले विपरीत बुद्धिः** के अनुसार मैने कहीं विपरीत कार्य तो नहीं कर दिया। पेथड़ इस प्रकार विचार मग्न है, उसी समय सिंहबाल के समान निर्भय होकर झांझण राजा के पास आया। राजा ने उससे पूछा - तुमने घी क्यों नहीं दिया। उसने निडर और निर्भीक होकर कहा - हे स्वामिन्! सामान्य से सामान्य आदमी के घर भी दो-चार दिन चले इतना तो घी होता ही है, फिर आप जैसे देशाधिपति के घर एक दिन चले उतना भी घी न हो, यह आश्चर्य नहीं तो क्या है? अचानक ही कोई शत्रु आकर किले को घेर ले और उस समय हमारे खाने का भण्डार भरपूर न हो तो प्रजा का रक्षण कैसे करेंगे? राजन्! आपके यहाँ तो घी की नदियाँ बहनी चाहिए। वैभव-सम्पन्न राजा होकर भी आप यदि प्रजाजनों के समक्ष ऐसे भीख माँगोगे तो प्रजा का पालन और रक्षण कौन करेगा? केवल यही निवेदन करने के लिए मैंने घी नहीं दिया था। राजा उसकी दीर्घदृष्टि और निर्भय वाणी को सुनकर मुग्ध बन गया। राजा ने विचार किया कि मुझे चेताने वाला भी मिल गया। ये दोनों पिता-पुत्र मन्त्री पद के लायक हैं। दोनों का राज्योचित सम्मान किया और मन्त्रीमुद्रा प्रदान कर दी।

पेथड़शाह की साधर्मिक भक्ति ....

इस तरफ पुण्योदय से पेथड़ का सुवर्ण-सिद्धि का प्रयोग भी सफल हो गया। चारों तरफ नदी की धारा के समान दान का प्रवाह बहने लगा। सुवर्ण-सिद्धि के प्रयोग से पाँच लाख से अधिक सम्पत्ति एकत्रित हो गई। धर्मघोषसूरिजी महाराज पेथड़ को धन-वैभव-सम्पन्न सुनकर अवन्तिदेश (मध्यप्रदेश) में पधारे। 'सूरिजी पधारें है', यह बधाई के समाचार सुनाने वाले को पेथड़ ने सुवर्ण जिह्वा प्रदान की। गुरु महाराज को वन्दन करने के लिए जाते हैं। विनंती करते हैं - प्रभु! मेरे पास परिग्रह-परिमाण से अधिक धन हो गया है। आप आज्ञा दें, मैं इसका

उपयोग कहाँ करूँ? गुरु महाराज के आदेश से माण्डवगढ़ में अट्ठारह लाख रुपये खर्च कर स्वर्णकलश ध्वजदण्ड सहित शत्रुंजयावतार नामक बहोत्तर जिनालय वाला मन्दिर बनवाया। अन्य अनेक धर्म कार्य भी बहुत किए। एक दिन पेथड़ को साधर्मिक भक्ति करने का मन हुआ। माण्डवगढ़ में लाखों जैन निवास करते थे, उनकी सूची बनवाई। उस सूची में भी दु:खी कौन है और किसको कितनी जरूरत है? आदि सूचनाएं भी एकत्रित की। उसके बाद उसने समकितमोदक की प्रभावना की। घड़े के अन्दर लड्डू रखकर परिवार की आवश्यकतानुसार उसमें सोना मोहरें भी रखीं। इस प्रकार गुप्त रूप से साधर्मिक भक्ति की। माण्डवगढ़ में कोई नये श्रावक को आते हुए देखता तो मार्ग में घोड़े पर से उतरकर उसको प्रणाम करता। पेथड़ का साधर्मिकों के प्रति विलक्षण बहुमान था।

भेंट से ब्रह्मचर्य स्वीकार ....

ताम्रावती नामक नगरी में भीम नाम का एक श्रावक रहता था। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था। इस भीम ने साधर्मिकों की भक्ति करने के लिए ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले ७०० भाई-बहनों के पास पूजा के वस्त्रों की जोड़ी भेजी थी। मन्त्री के रूप में एक जोड़ी पेथड़शाह के घर पर भी आयी। पेथड़शाह ने उस पूजा जोड़ी को तत्काल ही नगर के बाहर भेज दी और बड़े आडम्बर महोत्सव के साथ उस जोड़ी को अपने घर लाया। पेथड़शाह रोज इस जोड़ी की पूजा करता था किन्तु इन वस्त्रों को शरीर पर धारण नहीं करता था। उनका इस प्रकार का व्यवहार देखकर पेथड़ की पत्नी प्रथमिणी को यह संदेह हुआ कि साधर्मिक ने यह जोड़ी पहनने के लिए भेजी है किन्तु ये शरीर पर धारण क्यों नहीं करते हैं? पूजा के रूप में इसे अलग क्यों रखी है? प्रथमिणी ने अपने पति से पूछा। पेथड़ ने कहा - हे देवी! ब्रह्मचर्य व्रतधारक भीम ने यह जोड़ी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वालों के लिए ही भेजी है। मैं तो ब्रह्मचर्य व्रतधारक नहीं हूँ इसीलिए मैं इसे नहीं पहन रहा हूँ। प्रथमिणी ने तत्काल

ही कहा - हे स्वामिन्! व्रत ग्रहण करके इस वस्त्र जोड़ी को पहनिए। पेथड़ ने कहा - क्या तुम तैयार हो? प्रथमिणी ने हाँ कहकर स्वीकार किया। गुरु महाराज के पास जाकर नन्दीरचना के सन्मुख बत्तीस वर्ष की अवस्था में दोनों ने ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। इस व्रत ग्रहण निमित्त ही पेथड़शाह ने चौदहसौ पूजा-जोड़ियाँ साधर्मिक बन्धुओं के लिए समस्त प्रदेशों में भेजी और इसके पश्चात् ही भीम द्वारा भेजी हुई वस्त्र जोड़ी को पहना। ऐसे अद्भुत साधर्मिक भक्ति करने वाले अनेक विशिष्ट महापुरुषों से इस शासन का प्रत्येक पृष्ठ देदीप्यमान हो रहा है।

जगडुशाह की साधर्मिक भक्ति ....

जगडुशाह ने भी साधर्मिक भक्ति में अपनी सम्पत्ति का उपयोग किया था। उसने घड़े के आकार के समान बड़े-बड़े सवा लाख लड्डू तैयार करवाए थे। प्रत्येक गाँव में जो कोई भी दीन-दु:खी होता उसकी सूची तैयार करवाई। लड्डुओं के अन्दर सोना मोहरें रखीं और साधर्मिक भाईयों में वितरित की। इस प्रकार स्वयं की लक्ष्मी को सार्थक किया था। आज हमारे समाज के लाखों साधर्मिक बन्धु कैसी दयनीय दशा में जीवन बिता रहे हैं? ऐसे विषम समय में हमारे समाज के सैकड़ों नहीं हजारों समृद्धिमान जो कि लखपति या करोड़पति हैं वे लोग स्वयं के पाँच दस परिवार के साथ अपने-अपने गाँव के साधर्मिक बन्धुओं को स्वयं का ही मानकर क्या निभाव नहीं कर सकते? श्रीमन्तों के दिमाग में यह बात उतर जाए तो हमारा समाज और संघ भी उन्नति के शिखर पर चढ़ सकता है।

यदि धर्म सच्चे अर्थ में जीवन में परिणत हो जाए तो एक नवकारसी का प्रत्याख्यान भी अनंत कर्मों को भस्म करने वाला होता है।

क्षमापना

खामणा . . . .

श्रावक का तीसरा कर्त्तव्य खामणा है, जो पूरे पर्युषण पर्व की आराधना का केन्द्रबिन्दु है। जिसमें परस्पर आत्मीय भाव से खमाने की प्रक्रिया रखी गई है। चाहे जैसी सुन्दर से सुन्दरतम आराधना की हो किन्तु खामणा के बिना समस्त आराधनाएं एक के आंकड़े के बिना शून्य के समान है। यह जीवात्मा अनादिकाल से इस संसार में भटक रही है। उसके मूल में मुख्यतया दो कारण हैं – राग और द्वेष। राग का सम्बन्ध जड़ वस्तु के साथ अधिक रहता है; गाड़ी, बंगला, आभूषण, वस्त्र आदि वस्तुओं पर राग की प्रधानता रहती है। परस्पर जीवों के सम्बन्ध में द्वेष की ही अधिकता रहती है। तनिक भी प्रतिकूल आचरण लगने पर तत्काल ही उसकी तरफ अरुचि/द्वेष उत्पन्न हो जाता है। यह जीवात्मा का स्वभाव है। वह किसी की अच्छाई या भलाई नहीं देख सकता है। इस स्वभाव को दूर करने के लिए भगवान् ने खामणा का कर्त्तव्य बतलाया है। कभी भी तुम्हारे और उसके बीच में वैर *भाव जाग्रत हों तो तुरन्त ही क्षमा याचना कर लेनी चाहिए। उस समय* न खमा सको तो पन्द्रह दिवस में क्षमा याचना कर लो। उस समय भी न खमा सको तो चार महीने में क्षमा याचना कर लो। यदि चार महीने में भी क्षमा याचना न कर सको तो सम्वत्सरी के दिन अवश्य ही क्षमा याचना कर लो। खमाने के बिना चाहे जितनी भी आराधना की हो, चाहे मासक्षमण किया हो अथवा साठ उपवास किए हों सब निष्फल है। शास्त्रकारों ने उसे **भूक्खमारो से** अर्थात् उसे भूखमरा कहा है। आज तो सम्वत्सरी प्रतिक्रमण करने के पश्चात् औपचारिक रूप से **मिच्छा मि दुक्कडम्** देगा अथवा पन्द्रह पैसे का पोस्टकार्ड लिखकर डाकघर का फायदा कराएगा। हमारे हृदय को शुद्ध करने के लिए यह अनमोल औषध है। पर्व के निमित्त तुम यदि खमाने के लिए जाओगे तो छोटे हो ऐसा नहीं लगेगा। मनुष्य हजारों लाखों रुपये खर्च

कर सकता है किन्तु किसी के समक्ष सिर नहीं झुका सकता। सम्मेतशिखर तीर्थ की यात्रा कर सकता है किन्तु जिसके साथ वैर के बन्धन बन्ध चुके हैं उसके घर की तीन सीढ़ियां भी चढ़ना कठिन समझता है। तप करना सहज है किन्तु दूसरे से क्षमा याचना करना बहुत ही कठिन कार्य है। मोक्ष की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए यही बाधक बनता है। इस जीवन में क्षमा आ जाए तो हमारे लिए मोक्ष प्राप्त करना भी सुलभ हो जाता है। **जीवन में किसी व्यक्ति के साथ अबोला न होना चाहिए। अबोले तो गूंगे प्राणी होते हैं।**

चन्दनबाला-मृगावती ....

इस खामणा में केवलज्ञान को प्रदान करने की शक्ति है। शास्त्रों में चन्दनबाला और मृगावती का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। मृगावती महासती है। भगवान् महावीर के मामा चेडा नामक महाराजा की पुत्री है। चेडा राजा की सात पुत्रियाँ थीं। सभी पुत्रियों का विवाह बड़े-बड़े राजाओं के यहाँ हुआ था। मृगावती का विवाह कौशाम्बी के महाराजा शतानीक के साथ हुआ था। एक पुत्री का विवाह उज्जैन के महाराज चण्डप्रद्योत के साथ हुआ था। शतानीक राजा को ऐसी अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मुझे एक विशाल सभागार बनवाना है। जिसमें विविध प्रकार के चित्रों का निवेश हो। संजोग द्वारा दैवीय वरदान से युक्त एक चित्रकार भी मिल गया। उस चित्रकार को देव का ऐसा वरदान था कि किसी के भी शरीर का कोई भी अंग या हिस्सा देख ले तो वह उसका सम्पूर्ण हूबहू चित्र बना देता था। वही चित्रकार चित्रसभा का काम-काज संभालता था। एक बार उसने रानी मृगावती के एक अँगूठे को देख लिया। वरदान के बल पर उसने मृगावती का पूर्ण चित्र तैयार कर दिया। उस चित्र में वह एक भ्रमर को बनाना चाहता था, बनाते-बनाते रंग की एक बूंद चित्र की जंघा पर गिर गई। चित्रकार ने उसे पोंछकर साफ कर दिया। दो-तीन बार साफ करने पर भी बारम्बार रंग की बूंद वहीं पर गिरती थी। इस कारण से उसने विचार किया कि कदाचित् उस स्थान पर तिल होगा। दैवीय वरदान से

मृगावती का हूबहू चित्र तैयार हो गया। राजा निरीक्षण के लिए चित्रशाला में आता है। निरीक्षण के समय वहाँ मृगावती का चित्र देखता है और उसकी जांघ पर तिल का निशान भी देखता है, उसे देखते ही उसके मन में शंका के कीड़े कुलबुलाने लगे। इस तिल के निशान को मेरे अतिरिक्त कोई नहीं जानता है। निश्चित ही यह चित्रकार चरित्रहीन लगता है और मेरी रानी मृगावती भी सती नहीं लगती। राजा चितेरे पर क्रोधित हुआ और तत्काल ही चित्रकार का अंगूठा कटवा दिया। चित्रकार स्वयं देव के पास गया और देव के पास जाकर निवेदन किया। देव ने उसे आश्वस्त किया कि तु बांये हाथ से चित्र बना सकता है। चित्रकार ने अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। उसने मृगावती का दूसरा चित्र तैयार किया और उस चित्र को लेकर स्त्रीलम्पट चण्डप्रद्योत के पास जाता है। चण्डप्रद्योत उस चित्र को देखकर आसक्त बन जाता है। कौशाम्बी के राजा शतानीक के पास दूत भेजकर मृगावती की याचना करता है। ऐसी अश्लील मांग से कौशाम्बी नरेश प्रबल आवेश में आ जाते हैं और मांग को अस्वीकार कर देते हैं। इससे चण्डप्रद्योत अपना अपमान समझकर विशाल सेना के साथ वहाँ आता है और कौशाम्बी नगरी को घेर लेता है समुद्र के समान उसकी सेना को देखकर कौशाम्बी नरेश एकदम घबरा जाते हैं और इसी चिन्ता में वे मौत की गोद में सो जाते हैं। रानी को आघात लगता है। वह परिस्थितियों को भांप गई। वह स्वयं चतुर, निपुण और राजनीतिज्ञ थी। वह स्वयं अपने शील की रक्षा और पाँच वर्ष के पुत्र की स्वयं पर जिम्मेदारी है यह अनुभव करती थी। उसके समक्ष एक ओर शील का रक्षण था तो दूसरी ओर राज्य का रक्षण। उसने बुद्धिमत्तापूर्ण एक पत्र लिखवाकर भेजा। उस पत्र में लिखा था – हे राजन्! आप यहाँ आयें तो कोई दिक्कत नहीं है, अच्छा है। साली अपने बहनोई के साथ विवाह करे इसमें कोई नई बात भी नहीं है। मैं तो आपके पास आने को तैयार हूँ किन्तु इस राज्य का क्या होगा? मेरा पुत्र अभी पाँच वर्ष का है,

अतः बालक समझकर उसके राज्य को कोई हड़प न जाए, इसीलिए आप हमारे राज्य के चारों ओर सुदृढ़ दुर्ग बनवा दें। यहाँ दुर्ग बनवाने के लिए पक्की ईंटें बनती नहीं हैं, उज्जैन नगरी में ही बनती हैं। वहाँ से ईंटे मंगवाकर मजबूत दुर्ग बनवा दें, फिर मैं आपके पास आ सकती हूँ। राजा चण्डप्रद्योत ने मृगावती का जब यह बनावटी पत्र बांचा तो मन ही मन बहुत खुश हुआ। उज्जैन यहाँ से बहुत दूर है, वहाँ से ईंटें कैसे आ सकती हैं? चण्डप्रद्योत में धैर्य का अभाव भी था, अतः अपनी सारी सेना की कौशाम्बी से उज्जैन तक ऐसी रचना कर दी की हाथों हाथ उज्जैन से ईंटे आने लगी। कुछ ही समय में कंकर भी न खिरे इस प्रकार का सुदृढ़ दुर्ग बन गया। किला तैयार होने पर चण्डप्रद्योत ने कहलवाया कि अब तुम जल्दी से आ जाओ। मृगावती ने तत्काल ही कहलवाया कि दुर्ग तो तैयार हो गया है किन्तु यदि कोई राजा अचानक ही चढ़ाई कर दे और किले को घेर ले ऐसी दशा में प्रजा के भरण-पोषण के लिए अनाजादि तो चाहिए न? इसीलिए आप हमारे कोठारों को अच्छी तरह से भर दें, फिर मैं आऊँगी। राजा तो स्त्रीलम्पट था, इसी कारण आसक्ति में वह अपना भान भी भूल गया। तुरन्त ही कौशाम्बी नगर के समस्त भण्डारों को पूर्ण रूप से भर दिया। चण्डप्रद्योत ने पुनः कहलवाया - अब तो शीघ्र आ जाओ, देर मत करो। मृगावती ने उत्तर दिया - युद्ध के समय शस्त्रास्त्र न हो तो प्रजा का रक्षण कैसे होगा? अतः अच्छे से अच्छे नवीन शस्त्रास्त्रों को भिजवा दें, उसके बाद मैं आ सकती हूँ। स्त्री के मोह में फंसे हुए राजा ने अपने पास रहे हुए बढ़िया से बढ़िया ऊँची जाति के शस्त्रास्त्र मृगावती के पास भिजवा दिए और कहलवाया कि अब तुम जल्दी आ जाओ। इधर इस चालाक रानी ने किले के सारे दरवाजे बन्द करवा दिए और चण्डप्रद्योत के शस्त्रों के साथ ही किले पर अपनी सम्पूर्ण सेना को नियुक्त कर दिया। अपने ही शस्त्र और अपनी ही सेना सामने देखकर चण्डप्रद्योत पागल सा हो गया और अपने ही निर्लज्ज कर्त्तव्यों पर रो पड़ा। अरे, एक स्त्री

ने मेरे जैसे कूटनीतिज्ञ को मूर्ख बना दिया। अब मैं क्या करूँ? इधर मृगावती ने विचार किया - अभी तो मैं जैसे-तैसे छूट गई हूँ, अब यदि भगवान् महावीर यहाँ पधार जाएं तो मैं दीक्षा ग्रहण कर लूँ। संकल्प सच्चा हो तो फल भी तत्काल मिलता है। भगवान् कौशाम्बी नगरी में पधार गये हैं। समाचार मिलते ही मृगावती ने आदेश दिया- दरवाजे खोल दो। भगवान् पधारे हैं इसीलिए किसी प्रकार का उपद्रव या भय होने कि सम्भावना नहीं है। आदेश का पालन हुआ, दरवाजे खुल गये। मृगावती भगवान् की देशना सुनने के लिए जाती है। चण्डप्रद्योत भी भगवान् पधारे हैं यह सुनकर वन्दना करने और देशना सुनने के लिए जाता है। दोनों देशना सुनते हैं। देशना के पश्चात् मृगावती कहती है - भगवन् चण्डप्रद्योत मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान करे और मेरे पुत्र का रक्षण करे, तो मैं दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हूँ। भगवान् उसी समय अपनी दृष्टि चण्डप्रद्योत की ओर फैंकते हैं। चण्डप्रद्योत तत्काल ही खड़ा होकर निवेदन करता है - भगवन् मैं मृगावती को दीक्षा की आज्ञा देता हूँ, साथ ही इस रानी के साथ कोई भी दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मेरी अनुमति है। मृगावती चन्दनबाला के पास दीक्षा ग्रहण करती है। मृगावती चन्दनबाला की मौसी लगती है।

एक समय साध्वी चन्दनबाला मृगावती आदि भगवान् की देशना सुनने के लिए जाते हैं। चन्दनबाला समय होते ही अपने स्थान पर लौट आती है। चन्द्र और सूर्य भी अपने मूल विमान से देशना सुनने के लिए आए थे। मृगावती भगवान् की देशना में इतनी मग्न हो गयी थी कि उस प्रकाश के कारण मृगावती को समय का ध्यान नहीं रहा और स्थान पर पहुँचने में समय लग गया। चन्दनबाला उपालम्भ देती है। चन्दनबाला भांजी है और स्वयं मौसी और महासती है। ऐसा होने पर भी मृगावती शान्तचित्त और समता भाव से उपालम्भ को सहन कर लेती है। अपनी भूल के लिए क्षमा माँगती है। प्रतिक्रमण करने के बाद चन्दनबाला आराम करती है। मृगावती स्वयं की भूल का गहन पश्चात्ताप करती है।

पश्चात्ताप की अग्नि इतनी अधिक तेज हो जाती है कि उसमें उसके समस्त कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। मृगावती को निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होता है। भयंकर रात्रि और घोर अंधकार है, उसी समय एक काले सर्प को चन्दनबाला की तरफ बढ़ता हुआ मृगावती देखती है। सर्प के मार्ग में चन्दनबाला का हाथ आता है। मृगावती चन्दनबाला के हाथ को धीरे से उठा लेती है। चन्दनबाला जग जाती है और पूछती है - मेरा हाथ ऊँचा करने का कारण क्या था? मृगावती ने कहा - भगवती! सर्प आ रहा था इसीलिए मैंने हाथ ऊँचा किया था। चन्दनबाला कहती है - इस घोर अन्धेरी रात में तुमने सर्प कैसे देखा। मृगावती कहती है - आपकी कृपा से। चन्दनबाला सोचती है - कृपा अर्थात् क्या? मृगावती कहती है - ज्ञान के बल से। चन्दनबाला कहती है - कौनसा ज्ञान? प्रतिपाति या अप्रतिपाति? अर्थात् आकर चला जाए वैसा या स्थिर रहे ऐसा। मृगावती कहती है - न जाने वाला ज्ञान प्राप्त हुआ है। इन शब्दों को सुनते ही चन्दनबाला पश्चात्ताप करने लगती है - अरे! ऐसी महाज्ञानी (केवलज्ञानधारी) की मैंने आशातना की है, मृगावती से क्षमायाचना करती है। खमाते-खमाते ही ज्ञान की धारक बन जाती है और केवलज्ञान को प्राप्त करती है। सच्चे भाव से खमाया जाता है तब दोनों ही आत्माओं का, खमाने वाले का और क्षमा देने वाले का कल्याण होता है।

उपाध्याय श्री धर्मसागरजी महाराज ....

विजयहीरसूरिजी महाराज के समकालीन उपाध्याय धर्मसागरजी महाराज हुए थे। विक्रम संवत् १५९५ में १६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। उच्च कोटि के विद्वान् थे और महाप्रभावशाली थे। वे विहार करते हुए किसी गाँव में आए और वहाँ चौमासा भी किया। उस गाँव में कल्याणमल्ल और सहस्रमल्ल नाम के दो मुख्य श्रावक थे। उस युग में पगड़ी पहनने का रिवाज था। कोई भी नंगे सिर नजर नहीं आता था। आज दुनिया उल्टी चल रही है, किसी का भी सिर ढंका हुआ नजर नहीं

आता है। कल्याणमल्ल, महाराज को वन्दन करने के लिए आते हैं उस समय उनके सिर पर पगड़ी नहीं थी। गुरु महाराज ने स्वाभाविक रूप से पूछा - सेठ पगड़ी नहीं बांधते हो क्या? कल्याणमल्ल ने जवाब दिया - नहीं, साहेब! मैंने तो सहस्रमल्ल को, जो राजा का मन्त्री है उसको मारने की प्रतिज्ञा की है। जब तक उसको मैं मार नहीं देता तब तक सिर पर पगड़ी धारण नहीं करूँगा। इस प्रतिज्ञा को लिए हुए मुझे पच्चीस वर्ष हो गए। इस कार्य हेतु मुझे कोई मौका नहीं मिला। यह सुनकर गुरु महाराज को धक्का सा लगा। अरे! ऐसा मुख्य आगेवान श्रावक और ऐसा क्रोधी। उसको अनेक प्रकार से समझाया किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा से किञ्चित् भी पीछे नहीं हटा। इधर एक दिन अधिक रात होने पर भी सहस्रमल्ल किसी कारण से गुरु महाराज से मिलने के लिए आता है। उस समय गुरु महाराज किसी साधु के साथ स्वाध्याय कर रहे थे। सहस्रमल्ल को देखकर गुरु महाराज ने कहा - इतनी रात में आप अकेले आते हो यह अच्छा नहीं है। तुम्हें सावधान रहना चाहिए। मन्त्री कहता है - मेरा कोई दुश्मन ही नहीं है फिर मैं सावधानी क्यों रखूँ? गुरु महाराज कहते हैं - नहीं, भाई! ऐसा नहीं है। कल्याणमल्ल ने तुम्हें मारने की प्रतिज्ञा कर रखी है, उससे सावधान रहना। उस रात को ऐसा संयोग बना कि कल्याणमल्ल भी किसी कारण से उपाश्रय के किनारे सो रहा था। उसने यह वार्तालाप सुना तो गुस्से से आग बबूला हो गया। उसने सोचा - जिस बात को मैंने वर्षों तक गुप्त रखी उसी बात को गुरु महाराज ने प्रकट कर दी। क्या इनको साधु कह सकते हैं? उसके बाद तो उसने व्याख्यान में आना भी बन्द कर दिया। अरे! उपाश्रय में आना-जाना भी बन्द, गुरु महाराज को वन्दन करने के लिए भी नहीं आता। गुरु महाराज ने पता लगाया और कई बार कहलवाया कि उपाश्रय में अवश्य आवें किन्तु कल्याणमल्ल नहीं आया। ऐसे करते हुए पर्युषण पर्व आ गया। गुरु महाराज ने सोचा कि आज तो महापर्व का दिवस है इसीलिए कल्याणमल्ल अवश्य आयेंगे किन्तु वे तो

नहीं आए और उनके साथ परिवार के समस्त सदस्यों को भी रोक दिया। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, प्रतीक्षा करते रहे किन्तु वह नहीं आए। अन्त में पर्युषण का अन्तिम दिवस आ गया। सोचा आज तो मूल कल्पसूत्र सुनने के लिए अवश्य आयेंगे ही, किन्तु फिर भी नहीं आए। सांझ का समय हो गया। सम्वत्सरी प्रतिक्रमण करने के लिए तो अवश्य आयेंगे। गुरु महाराज राह जोते-जोते थक गए। श्रावकों का समुदाय प्रतिक्रमण करने के लिए आ गया है किन्तु कल्याणमल्ल नहीं आए। गुरु महाराज ने सोचा कि क्षमायाचना के बिना मेरा प्रतिक्रमण शुद्ध नहीं कहा जाएगा। भले ही कल्याणमल्ल नहीं आए हों मैं उनके घर जाकर क्षमायाचना करूँगा। भूल मेरी है। श्रावक लोग प्रतिक्रमण के लिए तैयार बैठे हैं। गुरु महाराज शिष्य को साथ लेकर कल्याणमल्ल के घर की ओर निकले। कल्याणमल्ल ने दूर से आते हुए गुरु महाराज को देखा और तत्काल ही घर के आदमियों को आदेश दिया कि मकान के दरवाजे बन्द कर दो। स्वयं छत पर चले गये। गुरु महाराज द्वार के पास आए, दरवाजा बन्द देखकर खटखटाया। दरवाजा खोलने की मनाही थी इसीलिए दरवाजा नहीं खोला। परिवार के लोगों ने कल्याणमल्ल से निवेदन किया - गुरु महाराज स्वयं चलकर के अपने घर के आंगन पर पधारे हैं, दरवाजा खोलने दो, किन्तु नहीं। गुरु महाराज ने बहुत बार दरवाजे को खटखटाया किन्तु जब दरवाजा नहीं खोला गया तो अन्त में हारकर गुरु महाराज बड़े ऊँचे स्वरों में बोले - कल्याणमल्ल! मेरे और तेरे बीच में जो कुछ भी हुआ है उसके लिए **मिच्छा मि दुक्कडम्** देता हूँ। मैं तुझे खमाता हूँ। ऐसा कहकर गुरु महाराज वापस चल दिए। गुरु महाराज की शीतल वाणी से कल्याणमल्ल की क्रोधाग्नि कुछ शान्त हुई। छत पर से वह नीचे उतरा, परिवार के साथ उपाश्रय आया। प्रतिक्रमण करने बैठा। प्रतिक्रमण में जहाँ सर्वजीवराशि खमाने की क्रिया आती है वहाँ कल्याणमल्ल एकदम खड़े हुए और गुरु महाराज के चरणों में गिर पड़े। क्षमा माँगी, केवल इतना ही नहीं, किन्तु

जिनके साथ पच्चीस-पच्चीस वर्ष से वैर बँधा हुआ था उस सहस्त्रमल्ल के पास गए और उनके चरणों में सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगे। वैराग्नि समाप्त हुई। दोनों के बीच में मैत्री भाव स्थापित हुआ। कैसी अजब शक्ति है इस क्षमायाचना में।

इस भव में बँधी हुई वैराग्नि भवान्तरों में अत्यधिक क्लेशदायक होती है और इसका हिसाब चुकाया नहीं तो यह बहुत भारी पड़ जाती है। यहाँ नमन करने मात्र से जो हिसाब-किताब साफ हो जाता है वह यदि बंधन के रूप में जलती रही तो भवान्तर में रो-रो कर इसका हिसाब चुकाना पड़ता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि समस्त शास्त्रों का यदि कोई सारांश है तो वह क्षमा ही है। इस पर्वाधिराज की आराधना तभी सफल होती है कि जब हम कट्टर से कट्टर दुश्मन के साथ भी दिल खोलकर हृदय से क्षमा माँगते हैं। भले ही भूल अपनी न हो, सामने वाले की हो किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि पहले तुम सामने वाले व्यक्ति को क्षमा करो और उसके बाद उससे क्षमा याचना करो। तुमने यदि गद्गद हृदय से क्षमा माँगी होगी तो सामने वाले की आत्मा भी क्षमा प्रदान करेगी ही। कदाचित् वह क्षमा न भी दे, तो भी उसके बाद तुम्हारा कोई दोष नहीं है। क्षमा में सहन करना बहुत थोड़ा है और इससे प्राप्ति बहुत गुना अधिक होती है।

- ***तप करने में शरीर सुखाना पड़ता है।***
- ***जप करने में समय देना पड़ता है।***
- ***दान देने में रुपये निकालने पड़ते हैं।***
- ***ज्ञान प्राप्त करने में बुद्धि कसनी पड़ती है।***

जबकि क्षमा की जड़ी बूटी बहुत सस्ती है। जिसमें खून घटता या बढ़ता नहीं है, शक्ति, माँस और हड्डियों को किसी प्रकार का घसारा नहीं लगता। जेब से पैसे नहीं निकालने पड़ते और समय अथवा बुद्धि का भोग नहीं देना पड़ता। केवल मन के साथ समाधान करना होता है।

❑❑❑

तपाराधना

अट्ठम तप की आराधना . . . .

श्रावक का चौथा कर्त्तव्य है - अट्ठम तप की आराधना अर्थात् आहार संज्ञा को तोड़ना।

जीव अनादिकाल से आहार का अभ्यस्त रहा है, उसको भंग करने के लिए तप करना आवश्यक है। सौ वर्ष पर्यन्त नरक की भयंकर वेदना सहन कर जीव जितने कर्मों का क्षय करता है उतने ही कर्म केवल एक नवकारसी के पच्चक्खाण मात्र से नष्ट हो जाते हैं। दस हजार करोड़ वर्ष पर्यन्त नरक की भयंकर वेदना सहन करके जीव जितने कर्मों को खपाता है उतने कर्म केवल एक उपवास करने से क्षय हो जाते हैं। इस प्रकार कितने ही चिकने कर्मों को क्षय करने की शक्ति तप में सन्निहित है। मनुष्य भले ही तीन समय खाना खाता हो किन्तु नवकारसी और चौविहार ये दो करता रहे तो उसके आयुष्य के जितने वर्ष हों उससे आधे वर्षों के उपवास का फल प्राप्त कर सकता है। आज चारों ओर आहार संज्ञा का ही बोलबाला है। मुम्बई की खाउघरा गली में जाकर देखें तो मानो दुष्काल में से न आए हों इस प्रकार वहाँ मनुष्य खड़े-खड़े ही मेजबानी की मौज-मस्ती उड़ाते हैं! पशु हमेशा खड़े-खड़े ही खाते हैं! अपनी बराबरी किसके साथ की जाए? विचार तो करिए? यह भयंकर आहार संज्ञा हमें कहाँ ले जाएगी? कोरिया का एक मनुष्य यहाँ आया और उसने कहा कि 'हमारे यहाँ तो साँप और बंदरो की हथलारियाँ घूमती हैं। जिस प्रकार तुम्हारे यहाँ मूंगफली के ठेले चलते हैं। मनुष्य हाथलारी के पास आकर खड़ा रहता है, बंदर का खून माँगता है। हाथलारी वाला बंदर के सिर में कील मारकर उसको उलटा करके एक गिलास रुधिर का भरता है और वापस वह कील उसके सिर में फिट कर देता है। पहला मनुष्य रुधिर का भरा हुआ गिलास गट-गट करके पी जाता है। कैसी

भयंकर है आहार संज्ञा? उसी प्रकार साँप वाली हाथलारी के पास कोई मनुष्य आकर खड़ा रहता है, अमुक जाति का साँप माँगता है, हाथलारी वाला साँप के सिर को काट कर उबलते हुए तेल में तल कर माँगने वाले को दे देता है। माँगने वाला मनुष्य साँप को आराम से चबाता-चबाता चला जाता है।' यह मन-घड़न्त बात नहीं है किन्तु जिस भाई ने अपनी आँखों से देखा है उसके कथनानुसार यह सत्य हकीकत है। हमें तो यह सुनते हुए भी घृणा आती है किन्तु दुनिया में ऐसी आहार संज्ञा में डूबे अनेक मनुष्य मिलते हैं।

तप उत्तम औषध . . . .

कर्म खपाने के लिए केवल तप ही है। साथ ही शरीर को निरोग बनाने के लिए भी तप जैसी उत्तम कोई औषध नहीं है। दुनिया के समस्त कारखानों में कच्चा माल डाला जाता है तो तैयार माल होकर बाहर आता है। जबकि एक शरीर रूपी कार्यशाला ऐसी है जिसमें तुम अच्छे से अच्छा माल डालो किन्तु वह खराब से खराब विष्टा के रूप में ही बाहर निकालती है। आचार्य भगवन् श्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में कहते हैं - **मिष्टान्नान्यपि विष्टासादमृतान्यपि मूत्रसात्।** शरीर में डाले हुए समस्त मिष्टान्न विष्टा रूप हो जाते हैं और सुन्दर से सुन्दर पेय पदार्थ भी मूत्र रूप में बन जाता है। ऐसे इस शरीर पर तप द्वारा ही दमन किया जा सकता है। तप यह जीवन की बहुमूल्य पूंजी है। जिस प्रकार दूसरी पूंजी खाने, पीने, पहनने और घूमने आदि कार्यों में काम आती है उसी प्रकार तपरूपी धन भी व्रतों के पालन, जप, ध्यान, इन्द्रियों के दमन आदि में काम आती है, किन्तु यह तप इच्छा का रोधन करने वाला होना चाहिए। आज तप धर्म उन्नति के शिखर पर है। बहुत से लोग मान-सम्मान के लिए ही तप करते हैं। तप करने के बाद जो कोई कुशलक्षेम पूछने के लिए नहीं आया हो या उसके निमित्त कोई उत्सव आयोजित नहीं किया गया हो तो मन में तुरन्त ही आर्त्तध्यान प्रारम्भ हो

जाता है। ऐसे तप को शास्त्रकारों ने लंघन कहा है। तप तो शरीर और मन दोनों को शुद्ध करता है। शास्त्रकार तो कहते हैं कि वर्ष में एक अट्ठम का तप तो करना ही चाहिए। यदि ज्यादा तप नहीं कर सकते हो तो इसके लिए भी अनेक सरल मार्ग बतलाए गए हैं। तुम अट्ठम नहीं कर सकते हो तो अलग-अलग तीन उपवास कर सकते हो। वह भी नहीं कर सकते हो तो छ: आयम्बिल अथवा नव नीवि अथवा बारह एकासने कर सकते हो। फिर भी कोई ऐसा कहे - साहेब! हमें तो सुबह-सुबह चाय मिले तो ही हमारे शरीर की मशीन चल सकती है। तो उनके लिए चौवीस बियासणा रखे गए हैं। यह भी नहीं होता हो तो अब भी उपाय है - छ: हजार गाथा का स्वाध्याय। अन्त में यह भी संभव न हो तो नवकार मन्त्र की साठ बँधी हुई माला का जाप करके भी अट्ठम तप पूर्ण किया जा सकता है।

नागकेतु . . . .

शास्त्र में नागकेतु की कथा प्रसिद्ध है। उसने पूर्व जन्म में अट्ठम करने की भावना की थी। इसी भाव संकल्प से झोपड़ी में सो रहा था। सौतेली माता ने आग लगा दी और वह जल कर मर गया। दूसरे जन्म के साथ ही घर के लोगों के मुख से अट्ठम की बात सुनकर उसने अट्ठम तप किया। जन्मजात बालक तीन दिन तक भूखा किस प्रकार रह सकता है? फलत: उसे मूर्छा आ गई। मरा हुआ समझकर उसको जमीन में गाढ़ने के लिए ले गये। उसी समय इन्द्र का आसन कंपित हुआ। इन्द्र आता है और बालक को मूर्छा रहित करता है। बच्चा मर गया इस आघात से उसके माता-पिता भी मृत्यु को प्राप्त हो गये थे। नागकेतु अकेला ही रह गया। सम्बन्धियों ने उसका लालन-पालन किया और वह क्रमश: बड़ा हुआ। अन्त में उसे केवलज्ञान प्राप्त होता है। कथा प्रसिद्ध है अत: उसका विस्तार नहीं करता। इस प्रकार भगवान् महावीर का तपोधर्म सर्वश्रेष्ठ है। दूसरी ओर देखें तो हिन्दु धर्म में अधिकांशत: पर्व के दिवस खाने-पीने और मौज-मजा के लिए होते हैं जबकि जैन धर्म में ही एक ऐसी

विशिष्टता देखने को मिलती है कि जहाँ पर्व दिनों में हम खाना-पीना छोड़ देते हैं और मौज-मस्ती भी छोड़ देते हैं। बहुत से भाग्यशाली छोटे पर्वों में कम भाग लेते है किन्तु इस पर्युषण में तो प्रत्येक संघ और प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता ही है। भले ही वर्ष में किसी भी दिन नवकारसी भी न करता हो किन्तु इन आठ दिनों में तो कुछ न कुछ अवश्य ही करता है। यह तप आहार संज्ञा तोड़ने के लिए ही होता है किन्तु आज के युग में तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य आहार संज्ञा की बढ़ोतरी कर रहा है। पारणे में देखो तो पच्चीस-तीस प्रकार की वस्तुएं। उत्तर पारणे में देखो तो विविध प्रकार की अनेक वस्तुएं। एक उपवास करना हो तो उत्तर पारणे में इतना अधिक ठूंस-ठूंस कर खाते हैं कि मानो दूसरे दिवस की भी पूर्ति कर रहे हों। उसके फलस्वरूप आरोग्य सुधरने की अपेक्षा बिगड़ जाता है। उपवास के पूर्व दिवस ही जिस प्रकार ठूंस-ठूंस कर खाते हैं वह भोजन शरीर के लिए सजारूप बन जाता है और पारणे के दिन कोई चीज कमी-बेशी हो जाए तो हम आपे से बाहर हो जाते हैं। तप तो समता से करने का होता है। **इच्छारोधे संवरी परिणति समतायोगे रे** अर्थात् इच्छा-रोधन से संवर प्राप्त होता है और उसकी परिणति से समता योग प्राप्त होता है।

चैत्य-परिपाटी....

श्रावक का पाँचवाँ कर्त्तव्य है चैत्य-परिपाटी। चैत्य अर्थात् जिन मन्दिर और जिन प्रतिमा। जिनेश्वर देव हमारे अनन्य उपकारी हैं। पूर्व वर्णित चार कर्त्तव्यों का उपदेश भी तीर्थंकर देवों ने ही दिया है। बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि हमें प्रभु भक्ति ही करनी चाहिए। जिन-मन्दिर के निर्माण में हम विश्वास नहीं रखते। केवल अनुकम्पा के आधार पर यह निर्माण नहीं चल सकता। गरीबों को दान देना, अस्पताल में बीमारों की सेवा करना आदि अनुकम्पा के धर्म, आचरण योग्य होते हैं। इनका जैन शास्त्रों ने निषेध नहीं किया है किन्तु यह अनुकम्पा धर्म का उपदेश

किसने दिया? जिनेश्वर देवों ने ही! तो इनकी भक्ति हम कैसे भूल सकते हैं? उन्होंने अपुकम्पा धर्म का प्रतिपादन न किया होता तो आप गरीबों की सेवा भी किस प्रकार कर सकते थे? इसीलिए जिन मन्दिर और उसमें विराजमान जिनेश्वरों की भक्ति हमें उपकारीभाव और कृतज्ञता से सदा करनी चाहिए।

पाँचम की चौथ ....

भगवान् के पास से हमने बहुत कुछ प्राप्त किया है अतः भगवान् के दर्शन भी संघ के साथ मिलकर करने चाहिए। वैसे तो पहले संवत्सरी पाँचमें की थी किन्तु चैत्यपरिपाटी के लिए ही पाँचम के स्थान पर चौथ की गई। कालिकाचार्य ने जिस नगर में चातुर्मास किया था वहाँ का राजा शालिवाहन आचार्य भगवान् का अनुरागी भक्त था। आचार्य भगवान् ने राजा शालिवाहन को चैत्यपरिपाटी में उपस्थित होने के लिए कहा, परन्तु राजा ने कहा – पांचम के दिन प्रजा का इन्द्र महोत्सव है इसलिए उस दिन पहले मैं इन्द्र महोत्सव में उपस्थित होऊंगा। यदि आप संवत्सरी दिन एक दिन आगे या पीछे कर लें तो मैं अवश्य सम्मिलित होऊंगा। नगर का राजा जिस पर्व में उपस्थित होता हो तो धर्म प्रभावना अधिक होती है ऐसा सोचकर आचार्य देव ने कहा – हे राजन्! पाँचम के स्थान पर छट्ठ तो हम नहीं कर सकते किन्तु चौथ अवश्य कर सकते हैं। अर्थात् चौथ के दिन चैत्यपरिपाटी रख सकते हैं। राजा ने स्वीकार किया। इस प्रकार कालिकाचार्य ने पांचम के स्थान पर चौथ की।

यह शरीर आत्मा के रहने का घर है। इन्द्रियाँ इस घर के खिड़की–दरवाजे हैं। भीतर रहने वाला कोई दूसरा ही है वह है आत्मा। इन खिड़की–दरवाजों द्वारा बाहर का देखा हुआ पदार्थ दरवाजा बंद होने पर भी स्मृति से ध्यान में आता है। इसीलिए कह सकते हैं कि शरीर से आत्मा पृथक् है। अंदर कोई विद्यमान है इसीलिए तो अभी तक इस काया (शरीर) को जलाया नहीं गया।

गणधरवाद

हमारे समस्त तीर्थंकर भगवान् क्षत्रिय वंश में हुए हैं। गौतम स्वामी आदि गुरुजन ब्राह्मण जाति के हुए हैं और इस धर्म का पालन करने वाले हम लोग (वैश्य) व्यापारी हैं, यह एक विशेषता है।

जब भगवान् महावीर अपापा नगरी में पधारे उस समय समस्त जाति के देव वन्दन करने के लिए उनकी सेवा में आ रहे थे। समीप के प्रदेश में ही इन्द्रभूति आदि के चार हजार चार सौ छात्र परिवार सहित यज्ञ मण्डप में बैठे हुए थे। देवों को आते हुए देखकर इन्द्रभूति मन में फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। अरे, मेरे यज्ञ की कीर्त्ति देवों तक पहुँच गई इसीलिए ये सारे देवगण मेरे यज्ञ मण्डप में आ रहे हैं, किन्तु देवगण तो यज्ञ-मण्डप को छोड़कर आगे निकल गये। इन्द्रभूति आदि पुनः विचार करते हैं कि ये देव कहाँ जा रहे हैं? क्या आसपास में कोई दूसरा वादी है? समस्त वादियों को तो मैंने पराजित कर दिया था, शायद कोई शेष रह गया हो। क्यों न उसके पास जाकर, उसे हराकर मैं अजित बन जाऊँ। ऐसा सोचकर इन्द्रभूति पर्षदा में जाते हैं। देशना चल रही है। हालांकि भगवान् को पराजित करने के लिए आए थे किन्तु भगवान् की शान्तमुद्रा को देखते ही ठण्डे पड़ जाते हैं, क्योंकि इन विद्वानों के पास विद्या का बल था जबकि भगवान् के पास में साधना का बल था। परोपकार-वृत्ति का तेज था। स्वार्थ का तेज काला होता है। निःस्वार्थ परोपकार का तेज उज्ज्वल होता है। भगवान् इन्द्रभूति को कहते हैं - इन्द्रभूति गौतम! पधारो-पधारो। इन्द्रभूति चौंकता है। मन में सोचता है कि इसने मेरा नाम कैसे जाना? स्वयं ही अपने संदेह का समाधान भी कर लेता है कि मैं तो सारे विश्व में प्रसिद्ध हूँ, मुझे कौन नहीं जानता। किन्तु मेरे मन में रही हुई शंका को यह सर्वज्ञ दूर कर दें तो मैं इनका शरण स्वीकार कर लूँ।

इन्द्रभूति गौतम के हृदय में क्या शंका थी और किस वाक्य के कारण उत्पन्न हुई थी? वेद में एक वाक्य आता है - **विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति।** इस वाक्य का अर्थ इन्द्रभूति इस प्रकार करते थे - आत्मा पाँच भूतों में से उत्पन्न होती है और उन्हीं पाँच भूतों में विलीन हो जाती है, इस कारण से परलोक की संज्ञा नहीं है। पाँच भूत अर्थात् पृथ्वी-(हड्डियाँ), पानी-(रक्त), अग्नि-(जठराग्नि), वायु-(श्वासोश्वास), आकाश-(शरीर का पोला भाग)। इन पाँच भूतों में से ही उत्पन्न होता है और उसी में समा जाता है तो आत्मा कहाँ से आती है कहाँ जाती है? आदि अनेक बातें विचारणीय है और इस संदेह में इन्द्रभूति गौतम उलझ जाते है।

वेद-वाक्य की भूमिका . . . .

दूसरी तरफ **बृहदारण्यक** नामक उपनिषद् में यह वर्णन आता है कि याज्ञवल्क्य नामक ऋषि थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। एक का नाम मैत्रेयी था और दूसरी का नाम था कात्यायनी। मैत्रेयी को तत्त्व-चर्चा में रस आता था जबकि कात्यायनी को खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना और मौज-शोख आदि में रस आता था। कुछ समय बीतने पर ऋषि जंगल में जाने का विचार करते हैं। जंगल में जाने से पहले स्वयं की सम्पत्ति का बँटवारा दोनों में करना चाहते हैं जिससे कि भविष्य में उनके बीच में किसी प्रकार का मतभेद न हो। उस समय मैत्रेयी ऋषि से कहती है - स्वामिन्! आप जो मुझे सम्पत्ति दे रहे हैं क्या उससे मुझे अमरत्व मिल जाएगा? ऋषि कहते हैं - नहीं। किसी भी काल में धन से अमरपद नहीं मिलता है। मैत्रेयी कहती है - स्वामिन्! तब फिर मैं इस सम्पत्ति का क्या करूँ। मुझे तो अमरपद चाहिए, यदि सारी पृथ्वी को सोने से मढकर मुझे दें तो भी मुझे नहीं चाहिए। मैत्रेयी को विशेष रूप से समझाते हुए ऋषि कहते हैं - जगत् में तीन प्रकार की एषणा चल रही है - १. वित्तैषणा २. पुत्रैषणा और ३. लोकैषणा।

(१) वित्तैषणा - धन की कामना

धन की कामना कभी भी पूरी नहीं होती। जिसको सौ मिल जाते हैं वह हजार की इच्छा करता है, हजार मिलने पर लाख की इच्छा करता है, लाख मिलने पर करोड़ की इच्छा करता है और करोड़ मिलने पर राजा बनने की कामना करता है। राजा बनने पर चक्रवर्ती बनने की इच्छा करता है और चक्रवर्ती बनने पर इन्द्र होने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार इस इच्छा का कहीं भी अन्त नहीं आता है। सुन्दरदास कवि ने लिखा है -

जो दस वीस पचास भये तब होई हजार तुं लाख मगेगी,
क्रोड अरब खरब्ब असंख्य धरापति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पाताल का राज्य करूं तृष्णा अधिकी, अति आग लगेगी,
सुंदर एक संतोष बिना शठ! तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

घर में जितने चाहे गोकुल हों किन्तु एक ही गाय के दूध का उपभोगी बन सकता है न? अर्थात् एक ही गाय का दूध पी सकता है। चाहे जितनी अढलक सम्पत्ति क्यों न हो किन्तु उसकी खुराक कितनी? चार या आठ रोटी ही। चाहे जितनी जमीन-जायदाद हो किन्तु कितनी जमीन का उपयोग करेगा? केवल साढ़े तीन हाथ! और तो सब कुछ दूसरों का है फिर भी मनुष्य की सम्पत्ति की एषणा पूरी नहीं होती।

(२) पुत्रैषणा - पुत्र की लालसा

यह पुत्र की लालसा भी मनुष्य के जीवन में ठूंस-ठूंस कर भरी हुई है। चाहे जितनी सम्पत्ति हो किन्तु पुत्र न हो तो? पुत्र- प्राप्ति के लिए मनुष्य न जाने कितने देवताओं की मन्नतें करता है। अन्त में दत्तक (गोद) लेता है। अरे, ईश्वर को भी सृजन करना अच्छा लगता है तो मनुष्य को पुत्र की अभिलाषा हो इसमें आश्चर्य कैसा?

(३) लोकैषणा - लोगों में पूजाने की कामना

बहुत लोग मेरे अनुयायी बनें, बहुत से लोगों का मैं प्रिय बनूँ, लोगों में मेरी प्रसिद्धि कैसे बने। बस, रात-दिन यही लालसा मन में पड़ी

हुई होती है। चुनाव में लाखों रुपये खर्च करता है किसलिए? पूजनीय बनने के लिए ही न! दान में कोई एक पैसा भी खर्च नहीं करता है। खर्च करेगा तो अपने नाम का पाटिया लगाने के लिए। एक मनुष्य मार्ग से जा रहा था। बाजु में शिल्पकार पत्थर गढ़ रहे थे। उसने शिल्पियों के पास जाकर पूछा - भाई! इन सब पत्थरों को किसलिए गढ़ रहे हो। जो मन्दिर के लिए गढ़ रहे हो तो पास में ही सुन्दर और विशाल मन्दिर तो है ही। शिल्पी उस भाई का हाथ पकड़कर आगे ले गया। वहाँ जो भाई यह मन्दिर बना रहा है, उस भाई का नाम शिला पर उत्कीर्ण किया जा रहा था। उस शिला को बता कर शिल्पी बोला - ये पत्थर मन्दिरों के लिए नहीं गढ़ रहें है किन्तु नामों के लिए गढ़ रहे हैं। नाम का कैसा मोह! उपाश्रय में भी पाट पर बड़े-बड़े मोटे अक्षरों में नाम लिखाएंगे। दान कैसा और नाम कैसा? **मनुष्य को सिद्धि नहीं प्रसिद्धि चाहिए, दर्शन नहीं प्रदर्शन चाहिए।** ऋषि मैत्रेयी से पूछते हैं -

इन तीनों एषणाओं का केन्द्र स्थान कौन है? आत्मा। यह धन किसके लिए? स्वयं के लिए। दूसरे को यदि प्राप्त होता है तो अच्छा लगता है क्या? नहीं! अरे, दूसरे को प्राप्त होता है तो मन में जलन होती है। पुत्र किसलिए? स्वयं के नाम के लिए ही न! जनसमूह किसलिए? मेरा महत्व बढ़े, मेरा काम हो। लोगों को किसलिए इकट्ठा करते हैं? लोगों के लिए नहीं स्वयं के लिए। यह तीनों एषणाएं स्वयं के लिए ही है, किन्तु यह स्वयं कौन है? इसका स्वयं को पता नहीं है। सबके केन्द्र स्थान में आत्मा है, इसीलिए हे मैत्रेयी, आत्मा कैसी है? इसको पहले तू समझ। आत्मा का ध्यान कर, चिन्तन कर, मनन कर तभी तुझे आत्मा का स्वरूप प्राप्त होगा। इसी सम्बन्ध में ऊपर का वेदवाक्य लिखा गया है / कहा गया है। आत्मा ज्ञान का समूह है। उठकर सोयें इतने समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान की हारमाला चलती रहती है। यह विभिन्न प्रकार का ज्ञान पाँच भूतों में से उत्पन्न होता है। पाँच भूतों के आधार पर ही

विचार चलते रहते हैं। भूतप्रेत लगे हो तो उनसे मुक्ति मिल सकती है, किन्तु इन पाँच महाभूतों से तो मोक्ष प्राप्त होने पर ही मुक्ति मिलती है। पदार्थों के सामने आने पर ही उस पर विचार प्रारम्भ होता है। अर्थात् ज्ञानोत्पन्न होता है। वही पदार्थ जब सामने से हट जाता है तो उसके सम्बन्ध का ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। एक ही विचार में आत्मा चौवीसों घण्टे नहीं रहती है। पाँच भूतों में से उपयोग उत्पन्न होता है। पाँच भूत आत्मा नहीं है। पाँच भूतों से ही इस शरीर की उत्पत्ति होती है। इन्द्रभूति ने वेदवाक्य से ऐसा अर्थ समझ रखा था कि आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। जबकि इसी वेद में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में आत्मा नाम का तत्त्व जगत् में विद्यमान है ऐसा वर्णन आता है। ये दोनों वाक्य विरोधाभास उत्पन्न करते हैं। इन्द्रभूति इस संदेह का निराकरण करने के लिए किसी से पूछता नहीं है। किसी को पूछने पर तो स्वयं की सर्वज्ञता में कमी नजर आती है। इसीलिए शास्त्र पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं किन्तु शंका का निवारण नहीं करते हैं।

प्रभु का उत्तर....

भगवान् इन्द्रभूति गौतम को 'आत्मा है' यह समझाते हैं। पहले तो आत्मा को अनुमान से समझाते हैं। आत्मा भले ही नजरों से प्रत्यक्ष नजर नहीं आती किन्तु अनुमान से कहा जा सकता है कि यह आत्मा है। जिस प्रकार किसी घर में आग लगने पर भले ही अग्नि हमें न दिखाई पड़ती हो किन्तु धुएं के बादलों से हम कह सकते हैं कि वहाँ अग्नि है। उसी प्रकार अनुमान से कह सकते हैं कि यह आत्मा है। घड़ा मिट्टी के विशिष्ट आकार वाला एक पदार्थ है। इसको घड़ने वाला इस जगत् में कोई है? हाँ, कुम्हार। उसी प्रकार इस देह का निर्माण करने वाला भी कोई होगा न? एक ही माता हो, एक ही कुक्षी हो, फिर भी सन्तानों के मध्य में समानता क्यों नहीं? सबका निर्माण करने वाला अलग-अलग होना ही चाहिए और वह है आत्मा। इन्द्रियाँ आदान का साधन है और विषय आदेय है। विषयों

को हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं पकड़ते है। जिस प्रकार तपेली को संडासी के द्वारा पकड़ा जाता है। इन्द्रियाँ संडासी है और विषय यह तपेली/बर्तन है। जो इन्द्रियाँ संडासी है तो उसको पकड़ने वाला भी कोई होगा न? वह है आत्मा। भोजन वस्त्र आदि भोग्य है किन्तु उसका खाने वाला, पहनने वाला कोई होना चाहिए न? घर बनाते है तो उस घर में रहने वाला कोई होना चाहिए या नहीं? उसी प्रकार यह देह घर है। इस घर में रहने वाला कोई होना चाहिए न? वह है आत्मा। शरीर, यह आत्मा के रहने का घर है। इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं। भीतर रहने वाला कोई दूसरा ही है। खिड़कियाँ और दरवाजों से देखा हुआ पदार्थ दरवाजा बन्द होने पर भी स्मृति से ध्यान में आता है। इसीलिए कह सकते हैं कि शरीर से आत्मा पृथक् है। शरीर ही आत्मा होती तो बाल्यावस्था में जो अनुभव किया है, वही अनुभव बड़े होने पर भी कैसे याद रहता? क्योंकि बारह वर्ष के बाद शरीर का खून इत्यादि सब कुछ बदल जाता है, ऐसा विज्ञान कहता है, इससे बाल्यावस्था में हुए अनुभव सब भूल जाते किन्तु नहीं, सब कुछ याद रहता है। वह याद रखने वाला कौन है? यदि शरीर ने आत्मा का अनुभव किया होता तो वह शरीर तो बदल गया। इस प्रकार आत्मा ही शरीर नहीं है।

जब समस्त चेतनाएं मूढ बन जाती है। अचेतन बन जाती है, तब इस देह को जला दिया जाता है। अन्दर कोई विद्यमान होगा इसीलिए अभी तक इस शरीर को जलाया नहीं गया। अनेक उदाहरण देकर भगवान् ने आत्मा का अस्तित्व इन्द्रभूति गौतम को समझाया। दूध के कण में क्या घी दिखाई देता है? तिल में तेल दिखाई देता है? लकड़ी में आग दिखाई देती है? पुष्प में सुगन्ध दिखाई देती है? चन्द्रकान्तमणि का चन्द्र के साथ जब सम्पर्क होता है तो मणि में से पानी झरने लगता है। वैसे तो मणि कठोर होती है उसमें कहीं पानी दिखाई देता है? फिर भी दूध में घी, तिल में तेल, फल में सुगन्ध, मणि में पानी है यह अनुमानतः स्वीकार

करना पड़ता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा है यह अनुमान से कह सकते हैं। भगवान् ने पहले प्रत्यक्ष द्वारा न समझाकर अनुमान से समझाया और अब प्रत्यक्ष प्रमाण से समझाते हैं।

प्रत्यक्ष से आत्मा है . . . .

कोई भी वस्तु को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए इन्द्रियाँ ही काम आती हैं। शब्द को प्रत्यक्ष करना हो तो कान कार्य में आएगा। रूप को प्रत्यक्ष करना हो तो आँख का उपयोग होगा। गन्ध को प्रत्यक्ष करना हो तो नाक काम में आएगी। रस को प्रत्यक्ष करना हो तो जीभ का प्रयोग करना पड़ेगा। ठण्डा या गर्म, कोमल या खुरदरा ये जानना हो तो स्पर्श इन्द्रिय का कार्य होगा। ये पाँचों इन्द्रियाँ बाह्यकरण कहलाती हैं और छठी इन्द्रिय मन को अन्तःकरण कहा जाता है। अन्तःकरण से आत्मा को जान सकते हैं। मैं सुखी हूँ, अथवा दुःखी हूँ इसका निर्णय कौन करता है? मन ही करता है। आत्मा मन द्वारा प्रत्यक्ष होती है। **मैं हूँ** यह बोलने वाला कौन है? आत्मा ही है। जब शरीर में से आत्मा निकल जाती है तो निर्जीव शरीर बोलता है क्या - **मैं हूँ?** तृण के स्पर्श मात्र से ही चिल्लाने वाला मनुष्य का जब अग्नि दहन किया जाता है तब वह कुछ बोलता है क्या? नहीं। क्योंकि आत्मा उसमें से चली जाती है। प्रत्येक वस्तु स्वयं के गुण धर्म के द्वारा प्रत्यक्ष होती है। ज्ञान यह आत्मा का गुण है और इसके द्वारा वह प्रत्यक्ष होती है। आत्मा के सुख-दुःख, ज्ञान ये सभी गुण हैं। हम सभी प्रयत्न करते हैं पुद्‌गल की सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए, किन्तु हमें आत्मा के जो ज्ञानादि सद्‌गुण है, उनको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमको पाँचों इन्द्रियों के विषयों में बहुत आनन्द मिलता है। जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं, किन्तु आज के युग में चारों तरफ जड़ की ही वाहवाही हो रही है। चेतन भी जड़ में मिल गया है। इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। चीनी में मधुरता आँखों से नहीं दिखाई देती किन्तु अनुभूति से होती है। समस्त इन्द्रियों पर मन का प्रभुत्व

है। आत्मा मन के साथ में, मन इन्द्रियों के साथ में और इन्द्रियाँ पदार्थों के साथ जुड़ी है, इसीलिए बाहर के पदार्थ का ज्ञान होता है। भीतर के पदार्थ का ज्ञान करना हो तो आत्मा केवल मन के साथ जुड़ती है। आत्मा द्वारा सुख और दुःख रूपी गुण प्रत्यक्ष में होते हैं। सुख-दुःख का आधारभूत पदार्थ आत्मा है। सुख-दुःख यह शरीर का धर्म नहीं है। ज्ञान, सुख-दुःख ये सब अरूपी हैं अतः उनके रहने का आधार भी अरूपी ही होना चाहिए न! जो ज्ञान इन्द्रियों का धर्म होता तो आज जो नेत्रयज्ञ चलते हैं, जिसमें एक की आँख दूसरे को लगाई जाती है। जिस व्यक्ति ने आँख द्वारा पदार्थ देखें हैं तो वह आँख दूसरे को लगाने में आती है तो वह व्यक्ति पूर्व व्यक्ति के द्वारा देखी हुई वस्तुओं का स्मरण कर सकता है क्या? नहीं, क्योंकि ज्ञान आँख में नहीं रहता है, वह आत्मा में ही रहता है। स्वयं के शरीर में प्रत्यक्ष रूप से आत्मा है ऐसा अनुभव होता है किन्तु दूसरे के शरीर में अनुमान द्वारा जान सकते हैं। इस प्रकार भगवान् ने सरलता से आत्मा का अस्तित्व है यह इन्द्रभूति को समझाया।

किसी मनुष्य को शंका हुई कि आत्मा है या नहीं? यह जानने के लिए उसने मरण शय्या में पड़े हुए एक वृद्ध पुरुष को काँच की पेटी में रख दिया। कुछ समय के पश्चात् उस वृद्ध की मृत्यु हो गई किन्तु उस पेटी में कहीं भी दरार नहीं आई, तो आत्मा नाम का जो पदार्थ है वह किस प्रकार से गया? उसने निश्चित किया कि आत्मा है ही नहीं। उसके संशय को दूर करने के लिए एक दीपक को काँच की मंजूषा में रखा गया। दीपक का प्रकाश बाहर आता है या नहीं? आता ही है। मंजूषा में कहीं दरार या छिद्र नहीं है तो फिर प्रकाश बाहर कैसे आया? प्रकाश को बाहर आने में काँच बाधक नहीं बनता है। उसी प्रकार आत्मा अरूपी होने से रूपी पदार्थ बाधक नहीं बनते हैं।

इन्द्रभूति गौतम को आत्मा का स्पष्ट दर्शन होते ही भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण करते हैं। प्रभु की सेवा में जीवन पर्यन्त समर्पित

भाव से रहे। इसी प्रकार प्रत्येक ब्राह्मण भगवान् के समीप आते हैं और भगवान् उनके संशय को दूर करते हैं। इस प्रकार ११ गणधर भगवान् के चरणों में अपना सिर रखते हैं। उसके बाद **उप्पन्ने इ वा, विगए इ वा, धुवे इ वा**, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, जो पूर्व पर्याय के रुप में नष्ट होता है और मूल द्रव्य के रूप में नित्य रहता है। इस प्रकार भगवान् के मुख से त्रिपदी सुनकर गौतमस्वामी आदि गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये त्रिमूर्ति क्या है? ब्रह्मा उत्पत्ति का स्थान है, विष्णु स्थिरता का प्रतीक है और महेश विनाश का प्रतीक है।

एक राजा था। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री के खेलने के लिए राजा ने सोने का छोटा घड़ा बनवा दिया। एक बार राजपुत्र ने उसे देखा तो उसने उस घड़े को गलाकर मुकुट बनवा लिया। पुत्री रोती-रोती राजा के पास आई और लड़का हँसता हुआ आया। दोनों की बात सुनकर राजा मध्यस्थ भाव हो सभा में बैठा हुआ विचार करता है - भले ही घड़े में से मुकुट बनाया हो किन्तु सोना रहा तो घर में ही न! मुकुट की उत्पत्ति हुई और घड़े का नाश हुआ फिर भी सोना तो स्थिर ही रहा। किसी भी पदार्थ के ये तीन स्वरूप होते हैं। भगवान् महावीर के निकट समय में होने वाले दस पूर्वधरों द्वारा लिखित ग्रन्थ आगम के रूप में माने जाते हैं। पहले ऐसा कहा जाता था कि ८४ आगम थे किन्तु आज ४५ आगम ही विद्यमान हैं।

ॐ

सुदाक्षिण्यता

भादवा सुदि १२

धर्म योग्य श्रावक का आठवाँ गुण . . . .

आज चारों तरफ धर्म खूब बढ़ रहा है किन्तु क्रियात्मक रूप से। गुणात्मक रूप से धर्म लुप्तप्राय: हो गया है। चारों तरफ अनीति, छल-कपट, दुराचार इतने अधिक बढ़ गये हैं कि धर्मीजन का मुखौटा पहनकर फिरने वाले के जीवन में धर्म का लवलेश भी नहीं होता। एक भी गुण का ठिकाना नहीं होगा। जीवन में यदि एक दाक्षिण्यता गुण भी आ जाए तो मनुष्य अनेक पापों में से बच सकता है। आज व्यवहार में भी हम देखते हैं कि दो आँख की शरम पड़ती है। कोई झगड़ा इत्यादि भी हो तो उससे सम्बन्धित मनुष्यों को हम कहते हैं – यह क्यों कर रहे हो? हम समझते हैं कि हमारे कहने का असर उस पर नहीं होगा किन्तु दो आँख की शरम से उसके कथन को मान लेगा। यह गुण तो मनुष्य को बहुत अकरणीय कार्यों को करते हुए रोक देता है।

साकेतपुर नगर में पुंडरीक नाम का राजा था। उसके छोटे भाई का नाम कंडरीक था और वह युवराज था। उस युवराज के यशोभद्रा नाम की रूपगुणयुक्त सौन्दर्यवती पत्नी थी। एक दिन वह श्रृंगार करके बाहर घूम रही थी कि उस पर पुंडरीक राजा की दृष्टि पड़ती है। रूपवती और श्रृंगार से सजी हुई उसको देखकर, स्वयं के छोटे भाई की पत्नी होने पर भी उसके मन में कामवासना सुलग उठी। यह वासना अति भयंकर है। यह वासना की आग जीवन के तमाम सद्गुणों को जलाकर भस्म कर देती है। राजा, यशोभद्रा का जेठ होते हुए भी स्वयं की मान-मर्यादा को भूलकर युवराज की पत्नी के समक्ष भोग की भीख माँगता है। यशोभद्रा सती है, उसने स्वाभाविक रूप से कहा – तुम्हारा छोटा भाई विद्यमान है और तुम्हें इस प्रकार की भीख माँगते हुए लाज-शरम नहीं आती? यशोभद्रा के इस

वाक्य का पुंडरीक ने गलत अर्थ लगाया। वह समझा कि जब तक मेरा भाई जीवित है तब तक यह सुख मुझे नहीं मिल सकता। वासना मनुष्य को अधम से अधम कृत्य करने के लिए प्रेरित करती है।

कामवासना के पाप में ....

एक बाबाजी थे। भगवान् के परम भक्त थे। एक समय किसी भक्त के यहाँ से भोजन का आमंत्रण आया। भक्त के यहाँ भोजन के लिए जाते हैं। जहाँ एक रूपवती युवान कन्या थी। यह कन्या बाबाजी के नजरों में चढ़ गई। दृष्टि निक्षेप होते ही वासना की आग भभक उठी। बाबाजी ने सोचा कि 'मैं बाबा हूँ' इसलिए कन्या तो माँग नहीं सकता, क्या करूँ? भक्त को कहते हैं - भाई! तेरी यह कन्या बहुत ही दुर्भाग्य-शालिनी है। इस कन्या को तुम यदि अपने घर में रखोगे तो तुम्हारा सत्यानाश हो जाएगा और यदि इसका विवाह कर दिया तो दोनों परिवार खत्म हो जाएंगे। इसकी अपेक्षा तो यही अच्छा रहेगा कि इस कन्या को गंगा में पधरा दो। भक्त भी बहुत चालाक था। बाबाजी की दृष्टि को भांप गया था। उसने विचार किया - ऐसे धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले व्यक्ति को अच्छी तरह मजा चखाना चाहिए। बाबाजी अपनी कुटिया में चले गये। गंगा नदी के किनारे ही कुटिया थी। राह देखकर बैठे हुए थे कि नदी के पूर्व में कुछ बहता हुआ आता है क्या? इस ओर भक्त ने एक लकड़े की पेटी मंगवाई। उसमें एक बंदरिया को रखकर पेटी गंगा के प्रवाह में प्रवाहित कर दी। पेटी को आते हुए देखकर बाबाजी ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी, जाओ, उस पेटी को नदी के प्रवाह से निकालकर मेरी कुटिया में रख देना। शिष्यों ने नदी में छलांग लगाई और पेटी को निकालकर गुरु के कमरे में रख दी। बाबाजी ने कुटिया में जाने से पहले अपने शिष्यों से कहा - किसी प्रकार की जोर-जोर से चिल्लाहट भी हो तो दरवाजा मत खोलना। अच्छा गुरुजी! बाबाजी तो कमरा बन्द करके पेटी खोलते हैं। ढक्कन खोलते ही पेटी के भीतर डालने से गुस्से से तमतमाती हुई बांदरी

ने बाहर छलांग लगाई और बाबाजी पर टूट पड़ी। बाबाजी जोर-जोर से चिल्लाने लगे किन्तु किसी भी शिष्य ने दरवाजा नहीं खोला। अन्त में लहू-लुहान दशा में जैसे-तैसे द्वार तक पहुँचे। मरते-मरते बच गये। किस पाप से? कामवासना के पाप से ही न? आज हजारों युवक बरबाद हो रहे हैं। स्वयं के जीवन की महामूल्यवान पूंजी सदाचार को बरबाद/चौपट कर रहे हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है -

Wealth is lost nothing is lost.
Health is lost something is lost.
Charactor is lost everything is lost.

जिस मनुष्य ने सम्पत्ति खो दी है उसने कुछ भी खोया नहीं। जिस मनुष्य ने अपना स्वास्थ्य नाश किया है उसने कुछ नाश किया है किन्तु जिसने अपने सदाचार-शील को खो दिया है उसने सर्वस्व खो दिया है। स्वयं की वासना पूर्ण करने के लिए आज की युवा पीढ़ी, जाति या वंश अथवा रात-दिन कुछ भी नहीं देखती है। चाहे जैसा ओछे से ओछा निर्णय लेने को भी तैयार हो जाती है। इस तरफ राजा जैसा राजा भी अपने छोटे भाई को मारने के लिए तैयार हो गया। मन में जिस प्रकार के विचार जन्म लेते हैं उसी दिशा में विचारों के चक्र गतिमान हो जाते हैं, इसीलिए महापुरुष कहते हैं - मन को सदा शुभ भावों में रमण करते हुए रखो। अब भाई को मारना है तो कैसे मारा जाए? सर्वदा उसके छिद्रों को ढूंढता रहता है। एक समय कंडरीक शस्त्ररहित बेफिक्र होकर घूम रहा था। उसी समय मौका देखकर पुंडरीक राजा ने पीछे से शस्त्र से वार किया। प्रचण्ड आवेश में घात करने पर एक ही झटके में कंडरीक के प्राणपखेरु उड़ गए। यशोभद्रा को अपने पति के मरण के समाचार मिले। प्रबल आघात से वह पागल सी हो गई। क्या करना? शील की रक्षा किस प्रकार करूँ। उसने विचार किया कि राजभवन में रहकर शील की रक्षा करना संभव नहीं है। प्राण-त्याग करके भी शील को खंडित नहीं होने दूँगी। रानी रातों-रात ही वहाँ से गुप्त रूप से भाग खड़ी हुई। भागते-भागते सावत्थी

नगरी में आयी। राजा के पंजे में से तो छूट गई किन्तु अब मैं क्या करूँ? उसी समय उसने देखा कि कितनी ही साध्वियाँ स्थंडिल भूमि/शौच से वापिस लौट रही थीं। रानी उनके पीछे-पीछे उपाश्रय तक पहुँची। उपाश्रय में प्रमुख साध्वीजी बैठी हुई थी। रानी ने वन्दन किया और उनके चरणों में मस्तक रख दिया। रोते-रोते उसने अपनी आप-बीती कही। कर्मराजा किसी को छोड़ता नहीं है। कर्म का सिद्धान्त सबसे बड़ा दर्शन है। जगत् में जो कुछ अच्छा है वह शुभ कर्म का फल है और जो कुछ दु:ख प्राप्त होता है वह अशुभ कर्म का फल है। इसीलिए महापुरुषों ने कहा है कि कर्म के सिद्धान्त को समझो, उठो-जागो और सत्कार्य करना प्रारंभ करो। शुभ कर्मों के उपार्जन से पुण्य प्राप्त करो और शान्ति प्राप्त करो। इसके लिए प्रभु के मार्ग को केवल संयम-जीवन को नहीं किन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना पड़ेगा न? अनन्त जन्मों के इकट्ठे कर्मों को भोगते-भोगते नाकों में दम आ जाता है। समस्त कर्मों को अल्प-समय में ही क्षय करना हो तो जिन भक्ति के द्वारा किया जा सकता है। जिन भक्ति के द्वारा पूर्व संचित कर्म जड़ से खत्म हो जाते हैं। भगवान् के नाम का जाप यह उत्तम साधन है। हजारों रुपयों के नोटों की गणना करनी हो तो कितने आनन्द और एकाग्रता से गणना करते हैं? गणना करते समय थकान या कंटाला आता है क्या? नहीं। ऐसा आनन्द और एकाग्रता जो भगवान् के नाम का जप करते समय आ जाए तो कर्म नाश हुए बिना नहीं रहेंगे। भक्ति भी एक रस है और उसका स्वाद भी होता है। यह तो निश्चित है कि जाप करते हुए पापबन्ध तो नहीं होता है न? पदार्थ का स्मरण करने से क्या पदार्थ मिल जाते हैं? बल्कि आर्त्तध्यान से पापबन्ध होता है। अन्तिम समय में एक क्षण भी प्रभु के नाम का स्मरण मन से हो जाता है तो सद्गति होती है। अरे, पाँच मिनट का किया वह स्मरण जो उत्तम गति को प्रदान करता है तो घण्टों, महीनों और वर्षों तक किया हुआ प्रभु का स्मरण क्या नहीं प्रदान करता है? अन्त समय में जो पदार्थों का स्मरण

करते हैं तो क्या होता है? दुर्गति ही होती है न? इसीलिए वैभाविक पदार्थों का स्मरण छोड़कर परमेश्वर का स्मरण प्रारंभ कर दो। शास्त्रों में अनेक महानुभावों की बात आती है। अनेक कुकर्मों को करने वाली आत्मा भी जो प्रभु के शरण में आ जाती है तो वह तर जाती है। ऐसा कर्म-विज्ञान जैन शास्त्रों के अतिरिक्त कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। इस रानी को भी किसी पूर्व-जन्म के कर्मोदय में आए होंगे। राजमहल से बाहर जिसने कदम नहीं रखा, पानी माँगने पर दूध सन्मुख आया, अनेक दास-दासियाँ जिसकी सेवा में उपस्थित रहती थी वह आज कर्म-राजा के चक्र में फंस जाने के कारण अकेली ही अनजान रास्ते पर रखड़ने को बाधित थी, किन्तु कोई पुण्यकर्म किया होगा उसके कारण उसे साध्वीजी का संघ मिला। महत्तरा साध्वीजी ने उसको आश्वासन दिया। रानी ने उनके पास दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही, साध्वीजी ने उसे योग्य समझकर दीक्षा प्रदान की। वह खूब-खूब सुन्दर आराधना करती है।

संयोग ऐसा बना कि जिस समय में रानी ने दीक्षा ली उस समय में उसके उदर में तनिक सा गर्भ था। दिनों-दिन वह गर्भ बढ़ने लगा। 'दीक्षा नहीं देंगी' इस भय से उस रानी ने इस बात को छुपाए रखा। अब रानी ने पूर्णतः सत्य घटना कह दी। साध्वीजी विचक्षण और गंभीर प्रकृति की थी इसीलिए एक शय्यातर श्राविका को यह बात बतला दी। श्रावक और श्राविकाएं साधु-साध्वियों के माता-पिता होते हैं। जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्र को प्रेम करते है उसी प्रकार उसकी भूल हो तो उपालम्भ भी देते हैं। उसी प्रकार श्रावक-श्राविकाएं भी साधु-साध्वियों की आहार-पानी इत्यादि से भक्ति करते है किन्तु तनिक भी ऊँचां-नीचा व्यवहार देखते हैं तो उपालम्भ भी दे सकते हैं। उस श्राविका ने माता-पिता के समान उसकी समस्त जवाबदारी अपने ऊपर ले ली। उसको भूमिघर में ही रखा जिससे की शासन की अवहेलना न हो। समय बीतता गया। रानी साध्वी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र अधिक तेजस्वी था। मूलतः

राजबीज है न? शय्यातर श्राविका उस पुत्र का लालन-पालन करने लगी। रानी तो पुत्र को जन्म देकर वापिस साध्वी मण्डल में आ गई थी।

बाल-संस्कारों के लिए क्या करोगे ....?

पुत्र का नाम खुदक कुमार रखा गया। वह आठ वर्ष का हुआ। उसी समय से उसके हृदय में धर्म के संस्कारों का सिंचन होने लगा। बालक का हृदय बिना लिखी हुई पत्थर की पट्टी के समान होता है। उसमें आप जिस प्रकार का लिखना चाहोगे उसी प्रकार का लिखा जाएगा। आज के लड़कों का संस्कार प्रायः समाप्त हो चुका है। इसमें माँ-बाप का ही अधिक हिस्सा है। माता-पिता अपने लड़के को डाँटकर स्कूल भेजेंगे किन्तु क्या डाँटकर उसको धार्मिक पाठशाला भेजते हैं? स्कूल नहीं जाएगा तो उसका भविष्य बिगड़ेगा, ऐसा मानते हैं किन्तु धर्म के संस्कार नहीं प्राप्त होंगे तो उसका यह जीवन ही नहीं अनेक जीवन बिगड़ेंगे। इसका कभी विचार आता है क्या? मेरा पुत्र पढ़कर वकील बने, डॉक्टर बने, ऑफिसर बने ऐसी तो इच्छा करते हैं किन्तु क्या ऐसी भी कभी इच्छा करते हैं कि मेरा पुत्र महान् साधु बनकर अनेकों का तारणहार बने? अब यह आठ वर्ष के बालक को प्रदत्त संस्कार कहाँ ले जाते हैं और दाक्षिण्यता के कारण इसके जीवन में कैसा उलट-फेर होता है? यह आगे देखेंगे।

श्रावक के तीन वर्ग हैं - सदिया, कदिया, भदिया। सर्वदा आराधना करने वाला वर्ग सदिया कहलाता है। तिथी विशेष और पर्व दिवसों में आराधना करने वाला कदिया कहलाता है और सिर्फ भादवे महिने में ही उपाश्रय में आकर आराधना करने वाला भदिया कहलाता है।

स्वार्थी संसार

भादवा सुदि १३

संसार पूर्णतः स्वार्थ से भरा हुआ है। जिसके पीछे जीवन के अमूल्य क्षण खर्चकर, तन मन धन सब कुछ बरबाद किया वही व्यक्ति धोखा दे तो उसकी कैसी दशा होगी? वह दशा न तो सहन करने के योग्य होगी, न कहने योग्य होगी और न रहने योग्य होगी। फिर भी लोग चर्चा करते हैं कि क्या करें, साहब! समझते हैं कि संसार स्वार्थ से भरा हुआ है। फिर भी उसे हमें निभाना पड़ता है। इस प्रकार कहकर मन को संतुष्ट अवश्य करते है फिर भी इस संसार पर उन्हें घृणा उत्पन्न नहीं होती है यही मोह मनुष्य को संसार में भ्रमण कराता है। जगत् के समस्त प्राणियों को देखो, सब लोग स्वयं के स्वार्थजनित विचारों को ही करते हैं – जबकि साधु का जीवन पूर्णतः परमार्थ से परिपूर्ण होता है। किसी मक्खी या कीड़ी को भी पीड़ा नहीं होनी चाहिए। समागम में आने वालों का सदैव भला हो यही कामना करते हैं।

जगत् के जीवों का सदैव भला हो ऐसा सोचने वाले अजितसेनसूरिजी महाराज सावत्थी नगरी में पधारते हैं। माता साध्वीजी के साथ खुदग कुमार भी आचार्य भगवान् को वन्दन करने के लिए आते हैं। बाल्यवय में ही संयम ग्रहण करने की अदम्य इच्छा से खुदगकुमार आचार्य महाराज के पास प्रव्रज्या की याचना करते हैं। माता साध्वी की भी यही इच्छा है कि मेरा पुत्र महान शासन प्रभावक बने। इस भावना से माँ ने अनुमति दे दी। आठ वर्ष की छोटी उम्र में ही वह संयम जीवन को स्वीकार करता है। सुन्दर आराधना पूर्वक निरतिचार संयम–जीवन का पालन करता है। १२ वर्ष का संयम पर्याय हो गया। २० वर्ष की तरुणावस्था आ गई। एक बार वह मुनि कहीं बाहर जाते हैं वहाँ तरुणमित्रों को क्रीडा करते हुए देखते हैं। अनादिकाल के संस्कार आत्मा में पड़े हुए हैं। क्रीड़ा को

देखकर उनका मन भी चलायमान होता है। संयम-जीवन का पालन करना अब दुष्कर लगता है। मन भोगों की तरफ आकर्षित होने लगा। आत्मा निमित्तवासी है। जैसा निमित्त मिलता है वैसा ही वह बन जाता है। इसीलिए तो महापुरुष कहते हैं कि सर्वदा शुभ-भावों में और शुभ-निमित्तों में मन को जोड़े रखो। इस मुनिराज का मन धर्म- ध्यान छोड़कर आर्तध्यान में डूबा हुआ रहने लगा। साथ में रहे हुए मुनिवरों को उसने अपनी इच्छा बतलाई। मुनियों ने उसे अनेक प्रकार से समझाया, किन्तु जो मन नीचे गिर गया था वह ऊँचा चढ़ना नहीं चाहता था। अन्त में माता साध्वीजी के पास गया। वेश छोड़ने की अनुमति मांगी। माता उसे विविध प्रकार से समझाती है किन्तु वह संयम-जीवन में रहने के लिए तैयार नहीं होता।

बालमुनि की दाक्षिण्यता . . . .

अन्त में माता साध्वी कहती है - भाई! तेरी इच्छा से तू संयम जीवन में बारह वर्ष तक रहा, अब मेरी इच्छा से तू बारह वर्ष और रह। भले ही संयम-जीवन से तू विरक्त हो गया है, उसके प्रति तेरा रस समाप्त हो गया है तब भी जीवन में दाक्षिण्यता का बीज पड़ा हुआ है। इस कारण से वह मुनि विचार करता है कि माता कहती है तो मैं कैसे अस्वीकार कर दूँ। माँ की शरम बीच में दीवार बनकर खड़ी हो जाती है। तुम लोग कभी अपने माता-पिता का विचार करते हो क्या? आज के माता-पिता की दशा और व्यथा देखते हैं तो हमारा हृदय काँप जाता है। घर में कोई सम्मान या स्थान नहीं होता। पुत्र ही नहीं पौत्र भी दादा-दादी के सामने बोलते हुए हिचकता नहीं है। क्षण मात्र में इज्जत उतार देता है। माँ-बाप के निःश्वासों से ही अधिकांशतः घरों में क्लेश और अशांति छाई हुई है। माँ-बाप के आशीर्वाद रूपी दवा से बड़े से बड़े रोग भी दूर हो जाते हैं। जिस घर में माता-पिता की पूजा होती है वह घर स्वर्ग के समान होता है, वहाँ सदा शान्ति का साम्राज्य छाया रहता है। खुदगकुमार ने माता की

आज्ञा से बारह वर्ष संयम जीवन का और पालन किया। बारह वर्ष व्यतीत होने पर वह पुनः अनुमति माँगने के लिए माँ के पास जाता है। माँ कहती है - वत्स! मेरी अपेक्षा में मेरी गुरुणीजी मेरे से बड़ी हैं। उनकी अनुमति प्राप्त कर ले। वह गुरुणीजी के पास जाता है, अनुमति माँगता है, महत्तरा गुरुणीजी कहती हैं -- हे मुनि! तुम अपनी माता की आज्ञा से बारह वर्ष संयम में ओर रहे तो क्या मेरी आज्ञा से बारह वर्ष ओर नहीं रहोगे? मनोभावों से विचलित मुनि दाक्षिण्यता के कारण अस्वीकार नहीं कर सका। गुरुणी की आज्ञा से बारह वर्ष ओर रहता है। इस प्रकार करते-करते आचार्य महाराज की आज्ञा और उपाध्याय महाराज की आज्ञा से पुनः बारह-बारह वर्ष तक संयम-जीवन का पालन करता है। उम्र बढ़ती जाती है। ६८ वर्ष का हो गया। अन्त में कंटाला खाकर वह पुनः माँ के पास जाता है। माँ ने भी समझ लिया कि अब अधिक खेंचने से कोई फायदा नहीं। जैसी भवितव्यता होगी वैसा ही होगा, ऐसा सोचकर उसने अनुमति दे दी। लम्बे अरसे से छुपा कर रखी हुई राजमुद्रा और रत्नकम्बल भी देती है और कहती है - पुत्र! तुम साकेत नगर में जाना तथा पुंडरीक राजा को यह राजमुद्रा बता देना। इस मुद्रा से वे तुझे राज्य का भाग दे देंगे। माँ का जीव है न? खुदग कुमार साधु वेश का त्याग कर, अन्य वेश ग्रहण, कर राजमुद्रा और रत्नकम्बल लेकर वहाँ से निकलता है। साकेत नगर आता है।

बहुत गई थोड़ी रही ....

राजमहल पहुँचते-पहुँचते रात हो गई। राजभवन के आँगने में एक नृत्य समारोह चल रहा था। नटवी (नाचने वाली) नृत्य कर रही थी। बहुत लंबे अरसे के बाद ऐसा देखने को मिला है, इसलिए खुदगकुमार भी उस नृत्य को देखने के लिए वहाँ खड़ा रह जाता है। रात पूरी होने को आ गई है नर्तकी के पैर भी लड़खड़ा गये हैं, आँखे नींद से भर गई हैं किन्तु नर्तिका को अभी तक कुछ भी दान नहीं मिला था इसीलिए वह

नाच रही थी। थकान के कारण उसके ताल और स्वर टूट गये हैं। उसी समय मुख्य नायिका उसको सांकेतिक भाषा में समझाती है - **बहुत गई थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाए। थोड़ी देर के कारणे रंग में भंग न आए।**

यह दोहा सुनते ही प्रतिबोध पाकर खुदग कुमार स्वयं के हाथ में रही हुई राजमुद्रा और रत्नकम्बल नर्तकी की ओर फेंक देता है। उसी समय युवराज यशोभद्र ने कुण्डल, सार्थवाह की पत्नी श्रीकान्ता ने हार, जयसन्धि नाम के मन्त्री ने कंकण और कर्णपाल नाम के महावत ने रत्न का अंकुश उस नर्तकी की तरफ फेंक दिया। ये पाँचों वस्तुएं लाख-लाख रुपये मूल्य की थी। नर्तकी को तो कल्पनातीत लाखों का दान मिला। रात पूरी हुई। राजा ने खुदग कुमार से पूछा - भाई! तुमने इतना दान क्यों दिया? खुदग कुमार ने राजा के समक्ष अपनी आपबीती सुना दी। घटना सुनकर राजा ने कहा - बहुत अच्छा, तुम यह राज्य ले लो। कुमार ने कहा - नहीं, अब तो मैं पुनः गुरु महाराज के पास जाकर प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म कल्याण की ओर अग्रसर होऊँगा। जीवन के अधिकांश वर्ष तो मैंने साधु-जीवन में व्यतीत कर दिये अब थोड़ी सी आयु के लिए उस उच्च जीवन को क्यों गवाँऊ? नर्तिकी के दोहे से मुझे बोध प्राप्त हुआ और इसीलिए मैंने प्रसन्न होकर राजमुद्रा तथा रत्न कम्बल उसे दे दिये। युवराज यशोभद्र से पूछता है - तुमने यह महामूल्यवान कुण्डल क्यों भेंट किए? युवराज कहता है - हे राजन्! मुझे ऐसा विचार आया कि राजा वृद्ध हो गया है, लालसा के कारण राजगद्दी को छोड़ नहीं रहा है अतः उसको मारकर मैं राजसिंहासन पर बैठ जाऊँ। इस दूषित विचार को मैं निर्णय में लाने ही वाला था उसी समय इस नर्तिका के दोहे ने मुझे जगा दिया। मैंने सोचा कि राजा अब वृद्ध हो गये हैं, कितने समय तक वे जीवित रहेंगे? इनके बाद तो यह सारा राज्य मेरे ही हस्तगत होना है न! इस प्रकार मैं एक हत्या से बच गया। उसी प्रसन्नता में मैंने ये कुण्डल दान में दिए। सार्थवाह की पत्नी को पूछते हैं कि तुमने यह हार क्यों भेट किया? श्रीकान्ता ने

उत्तर दिया - मेरा स्वामी एक लम्बे अरसे से बाहर प्रवास पर गया हुआ है। काम विह्वल होकर मैंने अन्य पुरुष के साथ समागम करने का विचार किया था किन्तु इस दोहे से मेरा अर्न्तमन जाग उठा, उसी खुशी में मैंने यह हार प्रदान किया। महावत को बुलाकर जब उससे पूछा गया कि तूने रत्न का अंकुश क्यों प्रदान किया? महावत कहता है - मुझे अमुक शत्रुराजा ने मनोवांछित धन देकर कुचक्र में फँसा लिया था कि मैं राजा का पट्टहस्ती उसको प्रदान कर दूँ। मैं इसी उलझन में था कि मैं क्या करूँ! किन्तु इस दोहे के द्वारा मेरा अन्तर जाग उठा और मैंने यह रत्न का अंकुश उसे प्रदान कर दिया। अन्त में मन्त्री से पूछा गया कि तुमने कंकण क्यों प्रदान किए? मन्त्री ने उत्तर दिया कि मुझे एक राजा ने आपको मारने के लिए इच्छानुसार धन देने का कहा था। मैं विचारों के झंझावात में सोच रहा था कि आपको मारूं या न मारूं? किन्तु इस दोहे से बोध पाकर मैं इस विषम अकार्य से बच गया। अन्त में सभी प्रतिबोध पाकर खुदग कुमार के पास प्रव्रज्या/दीक्षा ग्रहण करते हैं। खुदग कुमार गुरु के पास आकर क्षमा याचना करते हैं और प्रायश्चित्त लेते हैं। गुरु महाराज खुदग कुमार की दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं। इस दाक्षिण्य गुण से दीर्घ काल तक प्रव्रज्या का पालन कर अन्त में मुक्ति सुख के भोक्ता बनते हैं। जो दाक्षिण्य गुण नहीं होता तो अनिच्छा पूर्वक लम्बे समय तक संयम-जीवन का पालन भी नहीं करता। एक व्यक्ति ने कितने ही आत्माओं को तार दिया। जीवन में यह गुण अत्यन्त आवश्यक है। किसी पर्व दिवस में हम चाहे कुछ भी न करते हों उस समय कोई मनुष्य आकर कहता है - भाई! आज तो बड़ा दिन है पूजा करनी ही चाहिए, अमुक तपस्या भी करनी ही चाहिए। उस समय हमारे हृदय में यह दाक्षिण्य गुण होगा तो हम आँख की शरम से भी उक्त कार्य को करेंगे। इस प्रकार धर्म के योग्य श्रावक को दाक्षिण्य गुण से युक्त होना चाहिए।

> विशेष का निर्माण सामान्य से होता है।

लज्जा

भादवा सुदि १४

धर्म योग्य श्रावक का नौवाँ गुण ....

जगत् के पदार्थों की चाहे जितनी खोज होगी, चाहे जितने पदार्थों को आँख में बसाने के लिए हम तैयार होंगे परन्तु यह कब तक? आँख मूंद जाने तक ही न? समस्त शोध कार्य भले आश्चर्यकारी लगते हों किन्तु अन्त में उनका मूल्य कुछ नहीं रहता। यह समस्त शोध–खोज कुछ समय *तक और कुछ प्रश्नों का समाधान* कर सकती है किन्तु जन्म–जन्म के प्रश्न का क्या समाधान कर सकती है? नहीं, प्रत्येक जन्म के प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति केवल धर्म में ही है। दूसरा कोई भी पदार्थ कितना ही अमूल्य क्यों न हो किन्तु वह समाधान नहीं कर सकता। धर्म के लिए पहले पात्रता अर्जित कीजिए। शास्त्रकार कहते हैं कि पात्रता में सम्पत्ति अपने आप ही आ जाती है। योग्यता होगी तो मोक्ष भी स्वत: ही प्राप्त हो जाएगा। इसमें कामना या कल्पना क्यों? तुम किसी वस्तु के पीछे मत पड़ो। सम्पत्ति स्वयं ही तुम्हारी खोज कर रही है। लक्ष्मी स्वयंवरा स्त्री के समान है। इसके पीछे पड़ोगे तो वह तुम्हें मिलने वाली नहीं है। आज का मनुष्य धर्म के स्थान पर धन के पीछे पागल बना हुआ है। कदाचित् कोई जीवात्मा धर्म की अभिलाषा करता है, किन्तु धर्म की वास्तविक पहचान नहीं होने के कारण उसी में फँस जाता है।

धर्म के मूल में लज्जा ....

किसी भी कार्य की नींव दृढ़ होनी चाहिए। अरे! टेबल पर चढ़कर किसी वस्तु को लेनी हो तो टेबल के पाए मजबूत होने चाहिए। उसके पाए यदि हिलने–डुलने वाले होंगे तो उसपर चढ़ने वाला गिरेगा ही न? मकान की नींव भी सुदृढ़ होनी चाहिए। उसी प्रकार तीनों लोको में सर्वोत्तम सुख प्राप्ति के लिए धर्म का पाया भी दृढ़ होना चाहिए।

पूज्य शान्तिसूरिजी महाराज धर्म के मूल तत्त्वों को समझाते हुए कहते हैं - धर्म करने वाला मनुष्य लज्जालु होना चाहिए। **लज्जा को तो गुणों की माता कहा जाता है**। गुण अर्थात् रस्सी। डोरी के अगले छोर पर कोई चीज बंधी हुई हो तो रस्सी खेंचने के साथ ही वह चीज आती है या नहीं? आती ही है। उसी प्रकार जीवन में यदि एक भी विशेष गुण हो तो वह समस्त गुणों को आकर्षित कर लेती है। लज्जालु मनुष्य अनेक अकार्यों से बच जाता है। आज तो अधिकांशतः मनुष्यों के जीवन में से यह लज्जा गुण लुप्त प्रायः हो गया है। पहले घरों में कितनी मर्यादा रहती थी। श्वशुर घर में बैठा हो तो वहाँ से बहू निकल नहीं सकती थी। पहले मनुष्य का दूसरे गाँव में विवाह होता था और विवाह कर पत्नी को घर ले आता तो कहा जाता कि यह हमारे गाँव की बहू है। घर से बाहर निकलती तो मुख पर लाज का पर्दा स्वतः ही आ जाता था। सारे गाँव की मर्यादा का उसे पालन करना ही पड़ता था। भले ही वह बड़े घर की बहू हो किन्तु गाँव के छोटे से छोटे ठाकुर की भी उसे लाज काढनी ही पड़ती थी। इस युग में तो यह मर्यादा ही समाप्त हो गई है। धीमे-धीमे छोटे गाँव और कुटुम्ब तक ही यह मर्यादा सीमित रही है। अर्थात् कुटुम्ब में जो बड़े हों - सास-ससुर,जेठ-जेठानी, मामा-मामी, काका-काकी आदि की लाज काढी जाती है। युग बदलता गया। यह संस्कार भी चले गये अब तो सिर्फ पति के साथ ही सम्बन्ध होता है। सास-ससुर के साथ मेरा क्या लेना-देना? ससुर के सामने बेधड़क और मुँहफट बोलती है, कोई मर्यादा नहीं रही। वस्त्र भी अमर्यादित पहने जाते हैं। अरे, इससे भी आगे बढ़कर आज का जमाना कहता है कि हम हमारी जात से ही विवाह करते हैं, पति के साथ नहीं। आज स्त्री को पूर्णरूपेण स्वतन्त्रता चाहिए। घर के मनुष्यों की इच्छानुसार चलने का प्रश्न ही नहीं किन्तु स्वयं की इच्छानुसार घर वालों को चलाया जाता है। जो कहीं इसका हठाग्रह पूरा न हो तो

तलाक सामान्य बात है। आज हमारा समाज कोली-वाघरी के समान हो गया। लाज जाते ही सब कुछ चला गया। अरे, सासु-बहू और पुत्री तीनों एक साथ वन्दन करने के लिए आए हों तो पूछना पड़ता है कि इसमें सासु कौन है, बहू कौन है और पुत्री कौन है? तीनों की वेशभूषा और पहनावा एक जैसा होता है। मन्दिर उपाश्रय में भी कोई मर्यादा नहीं रही। पहले के युग में किसी भी स्त्री का सिर खुला नहीं दिखाई देता था। जबकि आज दुनिया उलटी गति से चल रही है। कहीं भी सिर ढकी हुई स्त्रियाँ दृष्टिगोचर नहीं होती। जीवन में यदि लज्जा नाम का गुण आ जाता है, तो वह केवलज्ञान तक पहुँचा देता है। देखिए -

चण्डरुद्राचार्य और शिष्य ....

एक नगर में चण्डरुद्र नाम के आचार्य किसी उद्यान में विराजमान थे। उनको संज्वलन कषाय का भयंकर उदय था। इसके कारण वे शिष्यों पर कुपित हो जाते थे। निमित्त मिलने के साथ ही क्रोध का उफान आ जाता था। इसीलिए निमित्तों से दूर रहने के लिए ध्यान में रहकर वे स्वयं एकान्त स्थान में बैठते थे। थोड़ी दूरी पर उनके शिष्य स्वाध्याय ध्यान में मस्त रहते थे। एक समय नवविवाहित श्रेष्ठी पुत्र अपने समवयस्क मित्रों के साथ उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए आया। उद्यान में मुनियों को देखकर सब लोगों ने उनकी वन्दना की। वन्दना भी भाव से नहीं मजाक में की थी। वन्दन करने के बाद किसी मजाकिये मित्र ने मुनि से कहा - हे भगवंन्! इस श्रेष्ठिपुत्र का कुरूप कन्या के साथ विवाह हो जाने के कारण इसको वैराग्य आ गया है इसीलिए वह आपके पास दीक्षा लेने के लिए आया है। मुनियों ने देखा कि ये सारे मित्र मजाकिया-हंसी कर रहे हैं इसीलिए उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। इस कारण से वह मजाकिया मित्र बारम्बार कहने लगा। मुनि लोग कंटाल गये। स्वयं के स्वाध्याय में ये विध्न रूप हो रहे हैं अतः उसे दूर करने के लिए एक मुनि ने कहा - जाओ, सामने ही हमारे गुरु महाराज बैठे हुए हैं वे दीक्षा देंगे। तत्काल ही

मजाकिया टोली गुरु महाराज के पास पहुँची। वहाँ जाकर भी मस्ती तूफान करते हुए बारम्बार आचार्य महाराज को कहने लगे - इसको दीक्षा दो, इसको दीक्षा दो। आचार्य महाराज ने एक-दो बार सुना, फिर कंटाल कर क्रोध में आ गये। एकाएक पहले श्रेष्ठि-पुत्र का हाथ पकड़कर अपने पास बिठाया और पूछा - क्या तुझे दीक्षा लेनी है? श्रेष्ठि-पुत्र भी मजाक में हाँ-हाँ कर गया। आचार्य महाराज ने उसी समय पात्र में रखी हुई राख से उसका लुंचन प्रारम्भ कर दिया। दूसरे मित्र तो यह दृश्य देखकर चिल्लाते हुए भाग खड़े हुए किन्तु श्रेष्ठिपुत्र में लज्जा नाम का गुण था इसीलिए वह चुपचाप बैठा रहा। उसने विचार किया - सज्जन पुरुषों के प्रमाद से भी बोले हुए अक्षर पत्थरों पर उत्कीर्ण शिलालेखों के समान होते हैं, बदलें नहीं जाते। ऐसा सोच समझकर उसने कहा - भगवन्! इन साथियों की आप न सुनें। मुझे आपके वचन प्रमाण हैं। आचार्य भगवन् ने देखा कि लड़का लज्जालु और सज्जन है इसीलिए इसको दीक्षा देने में कोई आपत्ति नहीं है। मुण्डन करने के बाद तत्काल ही साधु का वेश दिया। इसी वाट-घाट में संध्या हो गई। मजाकिया मित्रों का समुदाय तत्काल ही नगर में पहुँचा। इस तरफ नवदीक्षित श्रेष्ठिपुत्र ने विचार किया कि ये मेरे साथी नगर में जाकर स्वजन सम्बन्धियों को इस घटना की सूचना देंगे और सूचना मिलते ही सब लोग दौड़ते हुए यहाँ आएंगे और मेरा वेश भी उतरवा देंगे। अतः उसने आचार्य भगवन् से वन्दन कर निवेदन किया - गुरुदेव! आपने मुझे दरिद्री से चक्रवर्ती बना दिया है, क्योंकि गृहस्थीपन यह भिखारीपन है। वह विषयों की भीख माँगता है जबकि संयमीपन चक्रवर्ती स्वरूप है। चक्रवर्ती स्वरूप होने से वह मोक्ष का भोक्ता बनता है। आप मेरे परम उपकारी हैं। अभी नगर में से मेरे स्वजन-सम्बन्धियों का समुदाय आएगा। मुझे और आपके ध्यान में विघ्न पैदा करेगा। इसीलिए आप मेरी एक विनंती मानिए। हम इसी समय अन्यत्र विहार करके चले जाते हैं। आचार्य कहते हैं - मुझे आँखों से

अच्छी तरह दिखाई नहीं देता है, फिर भी आगे का रास्ता तू देखकर आ। विनीत शिष्य उठा और तत्काल ही कुछ दूरी तक मार्ग का निरीक्षण कर आया। गुरु और शिष्य दोनों उस मार्ग पर चले। अंधेरा सघन होने लगा। मार्ग भी परिचित नहीं था और गुरु महाराज को भी कम दिखाई देता था, इसलिए पग-पग ठोकरे खाने लगे। आचार्य का संज्वलन क्रोध उछाल खाने लगा। अरे! तू ऐसा ही मार्ग देखकर आया था? ऐसा कहते हुए हाथ में रहे हुए दण्ड द्वारा तत्काल ही मुण्डित सिर पर तड़ातड़ मारने लगे। बारम्बार ठोकरें लगने से आचार्य का क्रोधावेग भभक उठा और शिष्य के सिर पर दण्ड का प्रहार पुनः-पुनः करने लगे। सिर से रक्त की धारा बहने लगी तथापि विनयी शिष्य मन में विचार करता है - अरे रे, मैंने इस आचार्य महात्मा को कैसे संकट में डाल दिया? ये तो अपने स्वाध्याय ध्यान में तल्लीन थे। मैंने ही इनको विकट परिस्थिति में डाल दिया। क्या करूँ? एकाएक विचार स्फुरित हुआ। उसने गुरु महाराज से निवेदन किया - गुरुदेव! आप मेरे कंधे पर बैठ जाइये, जिससे आपको तकलीफ न होगी। कंधे पर बिठाकर चलता है किन्तु अंधेरा होने के कारण एवं उबड़-खाबड़ रास्ता होने पर भी वह संभल-संभल कर पग उठाकर चलता है किन्तु झटका तो लगता ही है। कंधे पर बैठे हुए गुरु महाराज को तकलीफ होने के कारण वे अत्यधिक क्रोधित होते हैं। इधर लज्जालु विनयी शिष्य मन में विचार करता है कि प्रातः काल होने पर मैं गुरु महाराज की इतनी अच्छी सेवा करूँगा कि उनकी सारी थकान उतर जाएगी। ऐसी सुन्दर विचारधारा में वह आगे बढ़ता जाता है। उसके स्थान पर हम होते तो? किसी ने एक भी कटु शब्द कह दिया तो हम उसे चार कटु शब्द सुनाते। शाब्दिक प्रहार को भी हम सहन नहीं कर सकते। वह कैसा गुणवान शिष्य था! गुरु को कठिनाई में डाल दिया। इस पश्चात्ताप की अग्नि ऐसी प्रज्वलित हुई कि उसके समस्त कर्मरूपी ईंधन जलकर स्वाहा हो गये। अब उसे निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। ज्ञान के प्रकाश

में उसे मार्ग दिखाई देने लगा, फलतः वह स्खलनारहित सीधे मार्ग पर सपाट चलने लगा। गुरु ने सोचा - अब ठोकरें क्यों नहीं लग रही है? शान्त होकर अपने शिष्य से पूछा - अब कैसे बराबर चल रहे हो? ठोकरें क्यों नहीं लगती? शिष्य ने उत्तर दिया - अब मार्ग साफ दिखाई दे रहा है। आचार्य संभले, सोचा और पूछा - क्या आँख से देख रहे हो या ज्ञान से? शिष्य ने कहा - ज्ञान द्वारा। गुरुदेव चौंके और पूछा - प्रतिपाति ज्ञान से अथवा अप्रतिपाति ज्ञान से? शिष्य ने कहा - गुरुदेव! आपकी कृपा से न जाने वाले अप्रतिपाति ज्ञान से अर्थात् केवलज्ञान से। उसी समय प्रातःकाल हो गया। शिष्य के मस्तक पर बहते हुए रुधिर के दाग देखकर उनका मन पश्चात्ताप में डूब गया। आत्मा पश्चात्ताप करती हुई आगे बढ़ी। अरे, मैंने केवली की आशातना की। स्वयं को पुनः धिक्कारने लगे। धिक्कार है मेरे पाण्डित्य को, धिक्कार है मेरे इन दूषित परिणामों को और धिक्कार है मेरे दीर्घ श्रमण पर्याय को। मैं क्रोध रूपी पिशाच के वशीभूत हो गया। देखो न, आज के नवदीक्षित साधु ने ही अपना जीवन संवार लिया। इस प्रकार महावैराग्य में डुबकी लगाते हुए गुरुदेव ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार लज्जालु श्रेष्ठिपुत्र ने संयम-जीवन को स्वीकार किया और सम्यक् प्रकार से आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया। लज्जा तो असंख्य पापों में से बचाने वाली है और केवलज्ञान तक पहुँचाने वाली सब गुणों की माता है।

***

मनुष्य को सिद्धि नहीं प्रसिद्धि चाहिये, दर्शन नहीं प्रदर्शन चाहिये।

दया

भादवा सुदि पूर्णिमा

दया की चाबी राजीनामा . . . .

धर्म के योग्य अधिकारी का दसवाँ गुण दया है। संसार और मोक्ष की चाबियाँ गुरु भगवन्त ने बतलाई है किन्तु जब तक सच्ची चाबी अपने हाथ नहीं लगती तब तक चाबियों के बड़े से बड़े गुच्छे भी क्या काम के? क्योंकि जिस आलमारी को खोलना हो उसमें वही चाबी लगाई जाती है। सच्ची चाबी का ख्याल नहीं और अनेक चाबियाँ लगाकर हैण्डल घुमाता रहे तो क्या आलमारी खुल जाएगी? नहीं। सेठ नौकर को कार्य मुक्त करे, उसके पहले ही यदि नौकर स्वयं ही राजीनामा प्रस्तुत कर दे तो वह सत्कार योग्य माना जाएगा! वह दूसरों को कह सकता है- सेठ, बराबर वेतन नहीं देते थे, ऐसे थे वैसे थे। उसी प्रकार तुम इन समस्त पदार्थों को अनीति युक्त व्यापार करके इकट्ठा करते हो। वे पदार्थ तुमको एक दिन छोड़ने ही वाले हैं। वे पदार्थ तुम्हें छोड़ें उसके पहले तुम ही उन पदार्थों को छोड़ दो तो? छोटे लड़के के हाथ में कोयला हो और उस कोयले को उसके हाथ से छुड़वाना हो तो पहले प्यार से उसे चॉकलेट देनी पड़ती है। चॉकलेट प्राप्त होते ही वह छोटा बालक कोयले को हाथ से फेंक देता है। वह नासमझ छोटा सा बालक भी समझ सकता है कि अच्छी वस्तु मिलने पर खराब वस्तु छोड़ देनी चाहिए। यदि तुम लोग इन तुच्छ पदार्थों को छोड़ें तो उसके स्थान पर परम कृपालु परमात्मा मिलते हैं, किन्तु हमें परमात्मा की उच्चता का ध्यान नहीं है। अथवा हम लोग इस नासमझ बालक से भी कमजोर पड़ते है।

खणं जाणाहि पंडिया . . . .

आकाश में सामान्य बादल छाते हैं तो मनुष्य सोचता है - वाह! कैसा अच्छा मौसम हो गया है। क्यों न शय्या पर जाकर सो जाएँ, किन्तु

ये बादल कितने समय तक रहने वाले! इनके चले जाने के बाद वही कड़कड़ाती धूप। उसी प्रकार जीवन में कभी-कभी पुण्य के बादल छा जाते हैं तो हम सब प्रकार से सुखी हो जाते हैं, किन्तु ये बादल कब हट जाएंगे इसका क्या विश्वास? इसीलिए एक कवि ने कहा है -

सुत वनिता धन यौवन मातो गर्भतणी वेदना विसरी,
सुपनको राज साच करी माचत राचत छांह गगन बदरी....

अर्थात् जिसके पास पुत्र है, धन है, यौवन है और स्त्री है वह मदोन्मत्त होकर गलियारे साँड की तरह चारों पैरों से उछलकूद करता है। स्वप्न में की हुई राजाशाही आँख खुलते ही पूरी हो जाती है। स्वप्न दो प्रकार के होते हैं - १. आँख बन्द होती है तभी प्रारम्भ होता है और आँख खुलते ही वह पूरा हो जाता है। जो हम प्रति रात्रि को देखते रहते हैं। २. जबकि दूसरा स्वप्न आँख खोलने से प्रारम्भ होता है और आँख बन्द करते ही पूरा हो जाता है, यही हमारा जीवन है। महापुरुष कहते हैं - ये पाँच-पच्चीस वर्ष अत्यधिक महत्त्व के हैं। समय रूपी पूंजी चारों गति में समान रूप से मिलती है। देवगण समय को भोगसुख में व्यतीत कर देते हैं। नारकी समय को आर्त्तध्यान अर्थात् निरन्तर दुःख में समाप्त कर देते हैं। बेचारे तिर्यंच गति के जीव अनेक कष्टों को सहन करने में अपने समय को खत्म करते हैं। मानवों को मिला समय रूपी धन सन्मार्ग या कुमार्ग में व्यय होता है। इस अल्प धन से किस प्रकार का व्यापार करना और किस प्रकार का मुनाफा प्राप्त करना, यह मानव ही समझ सकता है। मानव के अतिरिक्त किसी भी जीव के पास यह समझने की शक्ति नहीं है। इसीलिए महापुरुष कहते हैं - **खणं जाणाहि पंडिया।** हे पण्डित पुरुष! तुम क्षण को पहचान लो। यह तुम्हारे अमूल्य क्षण पानी के वेग के समान बह रहा है। तुम तुम्हारी आत्मा का हित साधन कर लो और धर्म की आराधना कर लो। जिन्होंने क्षण की महत्ता को पहचान लिया वे तिर गये और जो नहीं पहचान सके वे इस संसार चक्र में घूम रहे हैं।

सम्पत्ति दैवी या आसुरी ....

भगवान् महावीर ने धर्म की प्ररूपणा करते हुए मुख्य स्थान दया को दिया। **बिना दया का धर्म, बिना प्राण के शरीर समान है।** धर्म का अधिकारी मनुष्य दयालु होना चाहिए। आज मनुष्य के जीवन में आसुरी सम्पत्ति ने अधिकार कर रखा है। जो सम्पत्ति अन्याय या अनीति से आती है वह सम्पत्ति आसुरी कहलाती है और न्याय से उपार्जित सम्पत्ति दैवी कहलाती है। आसुरी सम्पत्ति अशान्ति, व्याधि और क्लेश को साथ में लाती है। जबकि दैवी सम्पत्ति शान्ति आनन्द और संप आदि को प्रदान करती है। आज प्रत्येक घर में अशान्ति का दावानल भभक रहा है। शेयर बाजार में मनुष्य बिना परिश्रम से लाखों रुपये कमाता है यह आसुरी सम्पत्ति का ही रूप है। जब बाजार भाव उतर जाता है तो मध्यमवर्गीय परिवार के लोगों के हृदय भी बैठ जाते हैं। आज शेर (सिंह) बकरी बन गया है। लाखों लोग जोर-जोर से चिल्लाते हुए रो रहे हैं। उनके नि:श्वासों में से मिली हुई सम्पत्ति शेयर बाजार के राजा लोग मौज-मजा में उड़ा रहे हैं। कहावत है -

तुलसी हाय गरीबकी, कबहुं न खाली जाय
मुए ढोरके चामसे, लोहा भी भस्म हो जाय।

एक तरफ लोगों को निर्दय होकर लूटता हो और दूसरी तरफ धर्म में लाखों रुपये खर्च करता हो तो वह समाज में निन्दा का पात्र बनता है। भंडार में हजार रुपये चढ़ा देगा किन्तु कोई कर्जदार दु:ख से बिलबिलाता होगा तो उसका एक रुपया भी माफ नहीं करेगा। तब यह कहने का मन हो जाता है - भाई! भगवान् को तुम्हारे धन की आवश्यकता नहीं है किन्तु मनुष्य के प्रति तुम्हारी हमदर्दी आवश्यक है। आज मनुष्यों में से मानवता मर चुकी है। पैसे के लिए तो भाई या बहिन किसी की भी शरम नहीं रखते। निर्लज्जता ऐसी आ गई है कि मनुष्य के पास में विपुल सम्पत्ति होते हुए भी, स्वयं के कुटुम्ब में कोई दु:खी हो और वह उसके काम में न आए तो वह सम्पत्ति किस काम की है? कहा जाता है -

बड़े भये तो क्या भये, जैसी लंबी खजूर
पंछी को छाया नहीं, और फल लागत अतिदूर।

मनुष्य के पास अमाप सम्पत्ति हो किन्तु वह ऊपर कही गई कहावत के अनुसार किसी के उपयोग में न आती हो तो वह किस काम की? सम्पत्ति वरदान के रूप में होनी चाहिए अन्यथा वह श्राप के रूप में बदल जाती है। तुम्हारी सम्पत्ति किस में से आ रही है इसका तुमने तनिक भी विचार किया? लाखों करोड़ो पशुओं का कत्लकर और उस माँस के निर्यात के बदले में दौलत मिलती है। उसके बदले में बड़ी-बड़ी मशीनें लगाते हैं और उन मशीनों के उत्पादन से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति तुम्हारे घर में आती है। मूलत: जरा गहराई से सोचो तो सही! असंख्य जीवों की हाय पर तुम्हारी सम्पत्ति खड़ी हुई है। इस विचित्र सरकार ने मनुष्य को दुर्दशाग्रस्त कर दिया है। नि:श्वासों की नींव पर चुना गया तुम्हारे वैभव का बंगला कब तक टिकेगा? हम बाईस अभक्ष्य और बत्तीस अनन्तकाय का त्याग करते हैं, यह अच्छा है किन्तु इन असंख्य जीवों की हाय में से आया हुआ धन भी अभक्ष्य ही है। हाँ, संसार को चलाने के लिए और सम्मान के साथ रहने के लिए सबकुछ करना पड़ता है, करो। हम इसे तनिक भी अस्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु पदार्थों को देखकर तुम उन पर ऐसे मूर्छाग्रस्त हो गये हो कि भगवान् की आज्ञा को भी कहीं का कहीं फेंक देते हों। निर्दय बनकर लोगों को लूट रहे हो, उसके सामने आपत्ति है। किसी को हजार या पाँच हजार का इन्जेक्शन लगवाना पड़े तो क्या उसको खुशी होगी? उस समय उसको ऐसा लगता है कि तुम तो पाँच-पच्चीस रुपये ही खाते हो जबकि मैं तो प्रतिदिन पाँच हजार के इन्जेक्शन खाता हूँ? नहीं, सम्पत्ति प्राप्त करनी पड़ती है तो प्रयत्न कर प्राप्त करते हैं। किसी को लूट कर प्रसन्नता नहीं होती। जो मनुष्य धर्म के रंग से रंगा हुआ होता है उसकी दूसरे पदार्थों में आसक्ति नहीं होती है। उदाहरण के तौर पर तुमने एक

घड़ी खरीदी। कुछ महीने बीत गये। दूसरी डिजाईन और मॉडल वाली घड़ी को तुमने देखा। उस पुरानी घड़ी को निकालकर नई डिजाईन के मॉडल वाली घड़ी खरीद ली। कुछ महीने और बीत गए। ऐसे तो हजारों प्रकार के डिजाईन वाली घड़ियाँ बाजार में आती रहती हैं किन्तु जो व्यक्ति शास्त्र के शब्दों से रंगा हुआ होकर विचारशील बन जाता है तो वह क्या विचार करता है? वह उस समय यही विचार करता है कि मुझे तो समय देखने का ही काम है! घड़ी के नये-नये मॉडल के साथ मेरा क्या प्रयोजन है? इस प्रकार जगत् के समस्त पदार्थों को देखता है और चिन्तन करता है तो उसकी आसक्ति घटती जाती है अर्थात् वैभव विलास घटता जाता है। मौज-शौक में उलटे मार्ग से नष्ट होती हुई सम्पत्ति बच जाती है। आज लाखों रुपये गलत मार्ग पर खर्च हो रहे हैं। इसीलिए मनुष्य को गलत व्यापार करके धन खड़ा करना पड़ता है।

जीवन में चार वस्तुएं याद रखो- चलेगा, मेरे इच्छानुकूल है, मेरे शरीर के अनुकूल है, मेरी रुचि के अनुकूल है। कोई भी वस्तु अनुकूल हो उसके योग्य बनना सीखो। यह नहीं चलेगी ऐसा दिमाग से निकाल दो।

दया

आसोज वदि १

धर्म का मूल पाया ही दया है। दया बिना कोई धर्म हो ही नहीं सकता। श्रावक स्नान करता है तो वह भी प्रभु पूजा के लिए। पूजा के लिए किया गया स्नान पुण्य कर्म का उपार्जन करने वाला होता है। आज का कथित श्रावक स्नान में दो–चार बाल्टी पानी को खत्म कर देता है। उसका पाणिघर/पीने के पानी का स्थान कतलखाना है, रसोईघर कतलखाना है, शौचालय और स्नानगृह कतलखाना है, आज सारा घर ही कतलखाने में बदल गया है। पानी का अपव्यय तो इतना बढ़ गया है कि भूमितल में भी पानी समाप्त हो रहा है। प्रत्येक दिन सैकड़ों बाल्टी पानी शौचालय और बाथरूमों में बह जाता है। है कोई इसका उपयोग? अपने यहाँ पानी को घी के समान व्यवहार में लेने का विधान है। अरे, ऐसे ही जैनों के घर और बंगलों में कृत्रिम पानी के फव्वारे लगाना, बढ़िया घास की लॉन लगाकर, पन्द्रवें–पन्द्रवें दिन बढ़ी हुई घास को कटवाना आदि कार्यों में उसमें रहे हुए बेचारे त्रस जीवों का कचूम्मर निकल जाता है। यह केवल शोभा के लिए और अनावश्यक ही किया जाता है। यह समस्त हिंसामय और पापमय प्रवृत्तियाँ होने से तत्काल बन्द करने जैसी है। पन्द्रह कर्मादानों का व्यापार करना ये सब हिंसा के कारखाने हैं। यह सब कार्य सच्चे जैनों को शोभा नहीं देते।

धर्मरुचि अणगार . . . .

वसन्तपुर नगर में जितशत्रु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी धारिणी नाम की रानी थी और धर्मरुचि नाम का पुत्र था। पुत्र के युवावस्था में आने पर राजा ने रानी को कहा – अपने वंश में प्रत्येक राजागण पुत्र को राज्य सौंप पर वनवास ग्रहण कर लेते हैं, वानप्रस्थ तापस बन जाते हैं। इसलिए मैं भी पुत्र को राज्य सौंप कर वनवास स्वीकार

करना चाहता हूँ। तुम्हारा लड़का घर संभालने योग्य हो जाए तो तुम दीक्षा लेने का विचार करते हो क्या? नहीं। तुम तो पुत्र-पौत्र मोह में आकर्षित होते जाते हो। तिरस्कार सहन करके भी सम्मानजनक साधु-जीवन स्वीकार करने की इच्छा नहीं करते। रानी भी वन में साथ जाने के लिए तैयार होती है। पुत्र को बुलाकर बात करते हैं, पुत्र भी जैसा नाम था वैसा ही गुण वाला था। माता-पिता को कहता है - आप इस राज्य का त्याग किसलिए कर रहे हैं? माता कहती है - पुत्र! मरते दम तक यदि राज्य वैभव का त्याग नहीं किया जाए तो अन्त में नरक में जाना पड़ता है। राज्य चलाने में और उसको स्थिर रखने में अनेक पाप बाँधने पड़ते हैं। उन समस्त पापों का नाश करने के लिए राज्य छोड़कर, तापस बनकर फलादि खाकर गुजारा करने से पापारम्भ रुक जाता है और प्रभु का ध्यान धरने से प्रभु के अनुरूप बन जाते हैं। तेरे पिता का नाम जितशत्रु है। नाम के अनुरूप ही उन्होंने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर राज्य का विस्तार किया है किन्तु अन्तर में रहे हुए छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना शेष है। वे छः शत्रु हैं - क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, और ममता। इन पर विजय प्राप्त करने के लिए राज्य छोड़ना आवश्यक है।

राजकुमार कहता है - जो राज्य दुर्गति में ले जाने वाला हो वह आप मुझे क्यों सौंपते हो? मैं भी आपके साथ ही आऊँगा। आप कभी अपने पुत्र को हित की बात समझाते हैं! अरे, पुत्र धर्म कार्य के लिए तैयार होता हो तब भी हम उसे उल्टा-सीधा समझाकर धर्म से विमुख बना देते हैं। साधु के संसर्ग में रहने ही नहीं देते। जो माता-पिता संतान के वास्तविक हितचिन्तक है वे स्वयं के संतानों को संसार में जोड़ने से पहले संसार के भयानक स्वरूप को समझाते हैं। कृष्ण महाराज अपनी पुत्रियों को संसार में प्रवेश करने से पूर्व पूछते थे - तुम्हें रानी बनना है या दासी? रानी बनना हो तो जाओ भगवान् नेमिनाथ के पास और यदि दासी बनना है तथा संसार के सुखों-दुःखों को झेलना है तो विवाह के लिए तैयार हो

जाओ। माता-पिता स्वयं के संतानों की इस भव की चिन्ता तो करते ही हैं, साथ ही अनेक भवों की चिन्ता भी करते हैं। राजकुमार ने माता-पिता के साथ संसार त्यागने का हठ किया। माता-पिता ने भी योग्य जानकर पुत्र के साथ संसार का त्याग कर वानप्रस्थ स्वीकार किया। किसी कौटुम्बिक जन को राज्य का भार सौंप दिया। वन में झोपड़ी बनाकर रहने लगे। विविध प्रकार की आतापना लेते। कन्द-मूल तथा फलाहार से जीवन निर्वाह करने लगे। तापसाश्रम के निकट ही अन्य बहुत से तापसगण रहते थे। किसी पर्व दिवस के आने पर उसके पूर्व दिवस पर ही अनाकुट्टि (अणोजा) की घोषणा कर दी जाती। अर्थात् पर्व-दिवसों में कोई भी बाहर से दर्भ, समिध, कन्द, मूल-फल लेने के लिए नहीं जाता। पूर्व दिवस में ही लाकर के रख देते थे। धर्मरुचि ने पिता से पूछा - अनाकुट्टि का अर्थ क्या होता है? पिता ने कहा - उस दिन कोई भी वृक्ष के पत्ते आदि का छेदन नहीं करे, किसी जीव कि हिंसा नहीं करे। जिस प्रकार हमारे में जीव है उसी प्रकार प्रत्येक वनस्पति में भी जीव है अतः उस दिन जंगल में फिरने भी नहीं जाए। क्योंकि, भूमि पर हरी घास होती है उस पर पग रखने से जीवों की हिंसा होती है, तो फिर फल-मूल, कन्द, आदि तोड़ने से तो हिंसा अधिक ही होगी। इसीलिए पर्व-दिवस में हिंसा न करने की घोषणा पहले ही कर दी जाती है।

धर्मरुचि के मन में दया के परिणाम पहले से ही पड़े हुए थे। उसने विचार किया कि यदि वनस्पति में जीव है तो फिर प्रतिदिवस अनाकुट्टि क्यों नहीं करनी चाहिए? वह इस प्रकार का विचार कर रहा है उसी समय उसके पास से तीन जैन मुनि निकलते हैं। उन मुनियों से धर्मरुचि ने कहा - साधुजनों! आज तो अनाकुट्टि है और तुम विहार कर रहे हो? हमारे तापस तो कोई झोपड़ी से बाहर नहीं निकलते। साधुओं ने कहा - हमे तो प्रतिदिन अनाकुट्टि है। हम तो किसी भी दिन हिंसा नहीं करते हैं। साधु उसको धर्म समझाते है। मुनियों को देखकर धर्मरुचि

अन्तर विचारों में खो जाता है - ऐसे साधुओं को मैंने कहीं देखा है। इस प्रकार ऊहापोह करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान के प्रभाव से पूर्व भव में साधु धर्म के पालन का स्मरण आता है और देवलोक में भोगे हुए सुख भी याद आते हैं। अत: वह सच्चा साधु बनकर प्रत्येकबुद्ध बन जाता है। माता-पिता तथा समस्त तापसों का एवं कन्द-मूल का त्याग कर वह जैन दीक्षा ग्रहण करता है।

दया के शुभ परिणामों से वह स्वयं संसार समुद्र से तर गया और अनेकों को तार दिया।

***

हमारी धन की कामना कभी भी पूरी नहीं होती है। जिसको सौ मिले वह हजार की कामना करता है। हजार मिलने पर लखपति बनने की, लाख मिलने पर करोड़पति बनने की, करोड़ मिलने पर राजा बनने की, राजा बनने पर चक्रवर्ती और चक्रवर्ती बनने पर इन्द्र जैसा शक्तिशाली होने की अभिलाषा करता है।

इस प्रकार इन इच्छाओं का कहीं भी अंत नहीं आता है। इन इच्छाओं के दलदल में फंसकर इंसान अपने आप को भी भूल जाता है।